इकाई 22 'चीफ की दावत' - भीष्म साहनी

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 मध्यवर्गीय अवसरवादिता और मानवीय मूल्यों का विघटन
22.3 आधुनिकता, सुसंस्कृति का पाखंड और अवसरवादिता
22.4 कहानी का निहित उद्देश्य
22.5 कहानी का कलात्मक पक्ष
22.6 सारांश
22.7 प्रश्न/अभ्यास

22.0 उद्देश्य

खंड 6 की यह पहली और इकाइयों के क्रम में 22वीं इकाई है। यह इकाई भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' कहानी पर आधारित है। प्रस्तुत कहानी में नगरों-महानगरों में रहने वाले मध्यवर्गियों में परिवारिक मूल्यों के प्रति बढ़ती अनास्था और पनप रही अवसरवादिता का यथार्थ चित्रण किया गया है। इस कहानी को पढ़ने के बाद आप :

- मध्यवर्गीय अवसरवादिता ओर मानवीय मूल्यों के विघटन में मध्यवर्ग की भूमिका पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- मध्यवर्ग में अपने स्वार्थ हेतु बढ़ती झूठी प्रदर्शन प्रियता और आधुनिकता के भोंडे अनुकरण के कारण, अपनों से दूर होते जाने की प्रक्रिया को समझ सकेंगे
- परिवारिक जीवन मूल्यों के विघटन के लिए जिम्मेदार व्यक्तिगत विकास की स्वार्थ निहित प्रवृत्तियों पर आलोचनात्मक टिप्पणी कर सकेंगे,
- 'चीफ की दावत ' कहानी की कलात्मक विशेषताएं स्पष्ट कर सकेंगे,
- आधुनिक हिंदी कहानिकारों में भीष्म साहनी के विशिष्ट स्थान को रेखांकित कर सकेंगे।

22.1 प्रस्तावना

प्रगतिशील कहानीकार के रूप में भीष्म साहनी सर्वपरिचित व्यक्तित्व है। इनके 'तमस ' उपन्यास पर बने टी.वी. सिरियल ने लगभग एक वर्ष तक लोगों को बांध कर रखा था। भारत-पाकिस्तान के विभाजन से उत्पन्न भयंकर विभीषिका का इसमें यथार्थपूर्ण चित्रण किया गया है। विभाजन से टूटते परिवार, छूटता परिवेश और दर-दर की ठोकरें खाने को विवश स्त्री-पुरुष, बच्चे-बुढ़ों की जीवन त्रासदी का अंकन भीष्म साहनी ने इस उपन्यास में किया है। इनके प्रकाशित कहानी संग्रह 'पटरियाँ ', 'बां[illegible]', 'भाग्यरेखा', 'पहला पाठ' तथा 'भटकती राख' हैं, जिनकी प्रमुख कहानियाँ 'अमृतसर आ गया', 'कटघरे', 'चीफ की दावत', 'दहलीज' 'पटरियाँ', 'सिर का सदका', 'सफर' आदि है। इनकी कहानियों में वर्गगत भेदभाव, आर्थिक जटिलताओं के साथ-साथ चरित्रों की कुण्ठित मनःस्थिति, अंतर्विरोध और जीवन के कटु अनुभवों की अभिव्यक्ति हुई है। इनकी कहानियों का एक निश्चित उद्देश्य रहता है और वह है, मनुष्य का विषमता के विरोध में किए जा रहे संघर्ष का यथातथ्य वर्णन करना।

भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' कहानी में मध्यवर्गीय समाज उसके परिवेश और मानसिकता को वास्तविकता के साथ अभिव्यक्त किया है। इसी अभिव्यक्ति में इनकी कहानियों में वैयक्तिक चेतना का किंचित पुट लक्षित होता है। इस वर्ग की कुण्ठाओं, घुटन, बिखराव को यथार्थ के धरातल पर रेखांकित किया है। खोखली मर्यादाओं, बाह्य आडम्बरों और आरोपित नैतिकता के प्रति भीष्म साहनी ने व्यंग्यपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया है।

भीष्म साहनी की कहानियों में यथार्थ के प्रति आग्रह दिखाई देता है, जिसके पीछे विशेष रूप से आदर्श की स्थापना का हेतु है। नगरों-महानगरों के लोग पारिवारिक मूल्यों की खिल्ली उड़ाते नजर आते है। ऐसे में वे यह भूल जाते है कि जीवन कितना खोखला होता जा रहा है। अपने बड़ों के प्रति असंवेदनशील होने से, ममता, दया, करुणा, सहानुभूति जैसे जीवन के मूलभूत तत्व लुप्त होते जा रही है। इसी प्रकार के यथार्थ को प्रस्तुत कहानी में चित्रित किया है। प्रगतिशील कहानीकार होते हुए भी भीष्म साहनी की कहानियाँ आक्रोशयुक्त राजनीति की शिकार नहीं हुई है। प्रस्तुत कहानी में मध्यवर्गीय के हृदय की थाह ली गई है। व्यंग्य के पुट द्वारा कहानी मार्मिक बनी है।

22.2 मध्यवर्गीय अवसरवादिता और मानवीय मूल्यों का विघटन

भीष्म साहनी एक प्रगतिशील कलाकार हैं, इन्होंने कहानियों के साथ ही उपन्यासों और नाटकों की भी रचना की है।

भीष्म साहनी की कहानी 'चीफ की दावत' का मुख्य उद्देश्य मध्यम वर्गीय व्यक्ति की अवसरवादिता, उसकी महत्वाकांक्षा में पारिवारिक रिश्ते के विघटन को उजागर करना है। मध्यवर्ग के व्यक्ति की यह सामान्य विशेषता है कि वह उच्च वर्ग में शामिल होने के अवसरों की तलाश में रहता है, चाहे वह स्वयं निम्नवर्ग से मध्यवर्ग में पहुँचा हो। औद्योगीकरण के विकास के साथ भारत में मध्यवर्ग का तेजी से विकास हुआ। शिक्षा प्राप्त कर अच्छी नौकरी पाकर या आजीविका का अन्य साधन पाकर निम्नवर्ग का व्यक्ति मध्यवर्ग में पहुँच कर उच्चवर्ग की संस्तुति के लिए उच्चवर्ग के मुँह की ओर ताकने लगा।

इस कहानी का नायक श्यामनाथ दफ्तर की नौकरी पाकर उच्च पद पाने की महत्वाकांक्षा रखने लगा और उस की पूर्ति के लिए अपने दफ्तर के विदेशी चीफ की खुशामद में लग गया। चीफ की दावत का प्रबन्ध अपने घर में करके वह अपनी बूढी माँ की उपेक्षा करता है। महत्वकांक्षा की पूर्ति के लिए माँ के साथ उस का खून का रिश्ता भी गौण हो जाता है।

आधुनिक परिवारों में बूढों की किस प्रकार उपेक्षा होती है और उन की क्या दुर्दशा होती है, यह दिखाना भी इस कहानी का उद्देश्य है।

आधुनिक दिखने की चाह में मध्यवर्गीय व्यक्ति प्रदर्शन प्रिय हो गया और बूढ़ी माँ चीफ की दावत के समय प्रदर्शन योग्य वस्तु नहीं, बल्कि कूड़े की तरह कही छिपाने की वस्तु हो गई है। इस झूठी प्रदर्शन प्रियता और छद्म आधुनिकता की कलात्मक व्यंजना इस कहानी में हुई है।

समग्रतः 'चीफ की दावत' पारिवारिक जीवन मूल्यों के विघटन को स्पष्ट करने के उद्देश्य को लेकर लिखी गई कहानी है। लेकिन माँ की ममता और उसके महत्व की स्थापना के माध्यम से लेखक ने माँ के रूप तथा स्वस्थ पुरानी परम्परा को वरेण्य सिद्ध किया है। श्यामनाथ जिस माँ को उपेक्षित होने लायक वस्तु मान रहे है, उसी के माध्यम से उसकी पदोन्नति होती है।

चीफ की दावत कहानी के घटनाक्रम के विकास के आधार पर इसे दो भागों में बाँट कर विश्लेषित किया जा सकता है। यह कृत्रिम विभाजन है, पर अध्ययन की सुविधा के लिए यह विभाजन किया गया है।

पहले भाग में चीफ की दावत के लिए की जा रही तैयारी के दृश्य हैं। श्यामनाथ और उस की पत्नी घर की सजावट, विशेषतः ड्राइंग रूम की सजावट, के लिए विशेष चिन्तित हैं। आधुनिक दिखने के लिए और उच्चवर्ग के विदेशी चीफ की नजरों में सुंसस्कृत दिखने के लिए यह प्रदर्शनप्रियता उनके लिए आवश्यक हो गई है।

घर को सजाना सामान्यतः सुरुचि का परिचायक है। हर कोई अपने घर को, बैठक को अच्छी दशा में देखना चाहता है। यह सुरुचि सम्पन्नता मानव का विशेष गुण है। बल्कि कहा जा सकता है कि इस आदिम सुरुचि से पशु जगत भी खाली नहीं है। तभी तो कुत्ता जहाँ बैठता है, उस जगह को अपनी पूंछ से साफ कर लेता है। कहानी के प्रारम्भ में ही श्यामनाथ की सुसंस्कृति सम्पन्नता की प्रवृत्ति हास्यास्पद प्रतीत होने लगती है। सुसंस्कृत और सुरुचि सम्पन्न होना एक बात है, पर वैसा दिखना दूसरी बात है, अर्थात प्रदर्शन प्रियता है। प्रायः ऐसा होता है कि व्यक्ति में जिस गुण या चीज का अभाव होता है या उसकी कमी होती है, उसका ही वह प्रदर्शन करता है। श्यामनाथ और उस की पत्नी की यह तथाकथित रुचि सम्पन्नता और सांस्कृतिकबोध वहाँ अपने असली रुप में दिखाई देता है, जहाँ श्यामनाथ की बूढी माँ उन दोनों के लिए कूड़े की तरह छिपाने की वस्तु बन जाती है। जब कूडे और माँ में कोई अन्तर नहीं रहता, तब वहाँ सुरुचि सम्पन्नता और आधुनिकता बोध नहीं, व्यक्ति की फूहड़ता और टुच्चापन प्रकट होता है। कहानी के इस भाग में कहानीकार ने श्यामनाथ के छद्म आधुनिकता बोध, संस्कृति के नाम पर उसकी प्रदर्शन प्रियता की प्रवृति को स्वाभाविक तथा कलात्मक ढंग से प्रस्तुत कर दिया है।

कथाक्रम में आगे दिखाया गया कि जब श्यामनाथ को लगा कि घर में माँ को छिपाया नहीं जा सकता और उसे पडोस की विधवा के घर भेजने से भी उसकी नाक कट जाएगी, तब उसे यह चिन्ता सताने लगी कि चीफ के आने पर माँ कहाँ बैठगी, कैसे बैठेगी, कौन से कपड़े पहनेगी और कौन सा जेवर पहनेगी। दूसरे शब्दों में उसकी चिन्ता यह थी कि प्रदर्शन के अयोग्य माँ को प्रदर्शन की वस्तु (show piece) कैसे बनाया जाए। इस बारे में माँ के साथ उसके संवाद बड़े रोचक और अर्थगर्भित है।

''और माँ हम लोग पहले बैठक में बैठेंगे। उतनी देर तुम वहाँ बरामदे में बैठना। फिर जब हम वहाँ आ जाएँ, तो तुम गुसलखाने के रास्ते बैठक में चली जाना।''

माँ अवाक् बेटे का चेहेरा देखने लगी। फिर धीरे से बोली - ''अच्छा, बेटा।''
(एक दुनिया समानान्तर - पृ. 224)

माँ कहाँ बैठेगी, इस बारे में निर्देश देकर श्यामनाथ ने एक समस्या का समाधान तो कर लिया। दूसरी चिन्ता को श्यामनाथ ने कैसे दूर करने की कोशिश की, यह इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है

एक कुर्सी को उठा कर बरामदे में कोठरी के बाहर रखते हुए बोले - ''आओ माँ, इस पर जरा बैठो तो।''

माँ माला सँभालती, पल्ला ठीक करती हुई उठी, और धीरे से कुर्सी पर आकर बैठ गई।

''यूँ नहीं, माँ, टाँगे ऊपर चढ़ाकर नहीं बैठते। यह खाट नहीं है। माँ ने टाँगें नीचे उतार लीं।'' (एक दुनिया समानान्तर - पृ. 224)

तात्पर्य यह कि श्यामनाथ अपनी माँ को उचित स्थान पर उचित ढंग से उसी प्रकार रखने के लिए व्यग्र दिखाया गया है, जैसे वह घर के सामान को सजाने के लिए प्रयत्नशील था। कहानी के इस भाग में श्यामनाथ अपनी माँ को यह निर्देश भी देता है कि वह कैसी साड़ी पहने। वह माँ को कुर्सी पर बैठ कर सोने की मनाही भी कर जाता है, क्योंकि सोते समय माँ जोर के खर्राटे लेती है, जिस से चीफ की दावत में बाधा पड़ सकती है। माँ का उत्तर बड़ा करुण है

''क्या करूँ बेटा, मेरे बस की बात नहीं है। जब से बीमारी से उठी हूँ नाक से सांस नहीं ले सकती।'' (वही - पृ. 224)

श्यामनाथ की एक समस्या यह भी है कि वह अपनी सम्पन्नता का प्रदर्शन कैसे करे। घर के कोने-कोने को सजा कर और विशेष रुप से बैठक को सजा कर वह अपनी सुरुचि के साथ अपनी सम्पन्नता और समृद्धि का प्रदर्शन कर के चीफ के ऊपर अपनी धाक जमाना चाहता है। इस इच्छा से प्रेरित होकर वह माँ को निर्देश देता है कि वह सफेद कमीज और सफेद सलवार पहन ले। माँ नये कपड़े पहन कर आई तो उस से श्यामनाथ का जो संवाद हुआ, वह उस की शूद्र मानसिकता का परिचायक है।

''चलो ठीक है। कोई चूड़ियाँ-वूड़ियाँ हों तो वह भी पहन लो। कोई हर्ज नहीं।''

''चूड़ियाँ कहाँ से लाऊँ बेटा, तुम तो जानते हो, सब जेवर तुम्हारी पढ़ाई में बिक गए।''

यह वाक्य श्यामनाथ को तीर की तरह लगा। तुनक कर बोले ''यह कौन सा राग छेड़ दिया माँ, सीधा कह दो, नहीं है जेवर, बस। इसमें पढ़ाई-वढ़ाई का क्या ताल्लुक है?'' (वही - पृ. 225)

ऊपर के संवाद से स्पष्ट हो जाता है कि उस की पढ़ाई में माँ ने जेवर बेचकर जो त्याग और वात्सल्य का प्रमाण दिया था, उस के उल्लेख मात्र से वह खिन्न हो गया। उसकी खिन्नता से लगता है कि वह अपने ऊपर किए गए माँ के एहसान को स्वीकार नहीं करता और अपनी माँ के वात्सल्य का अपमान इन शब्दों में करता 'जितना दिया था उस से दुगना ले लेना।' क्योंकि माँ की ममता के मूल्य को कभी चुकाया जा सकता है? पर इस कहानी का श्यामनाथ माँ के एहसान को ना ही मानता, बल्कि उस के वात्सल्य का अपमान भी करता है। माँ ने अपनी विपन्नता का केवल संकेत किया था, क्योंकि उसके पास कोई जेवर नहीं बचा था, पर अपनी समृद्धि के प्रदर्शन के नशे में

मस्त श्यामनाथ माँ की विपन्नता के उल्लेख मात्र से तिलमिला गया। यह उसकी प्रदर्शनप्रियता के साथ उसकी शूद्रता का सूचक है। इस प्रकार 'चीफ की दावत' कहानी के प्रथम भाग में मध्यवर्गीय व्यक्ति के अवसरवादी चरित्र का उद्‌घाटन हो जाता है। श्यामनाथ के माध्यम से कहानीकार ने पारिवारिक जीवन मूल्यों के विघटन, और परिवार में बूढ़ों की दुर्दशा का चित्रण किया है। श्यामनाथ के घर में बूढ़ी माँ की जो दुर्दशा है, वह अनेक परिवारों में बूढ़ों की होगी।

22.3 आधुनिकता, सुसंस्कृति का पाखंड और अवसरवादिता

'चीफ की दावत' कहानी के दूसरे भाग में दावत के समय की स्थितियों, श्यामनाथ और उसकी पत्नी के खुशामदपूर्ण व्यवहार, चीफ के सामने पड़ने पर माँ की विचित्र स्थिति आदि का वर्णन है। दावत के समय भोजन से पहले शराब का दौर रात के लगभग साढ़े दस बजे तक चला। यह पश्चिमी सभ्यता का सूचक है। इस कहानी का चीफ तो विदेशी है, पर अतिथियों में अन्य कई हिन्दुस्तानी हैं। पर सब पश्चिमी सभ्यता के रंग में रंगे दिखाए गए हैं। दावत में उपस्थित सभी पुरुष और महिलाएँ बेहिचक शराब पीती हैं और वह भी कई घंटों तक। चीफ की पत्नी हिन्दुस्तानी औरतों की दृष्टि का केन्द्र बनी हुई है। शराब के नशे के बीच खुशामद, हँसी, कहकहों की लहरें उठती गई, पर श्यामनाथ की माँ बरामदे में कुर्सी पर बैठी रही और थक कर सो गई तो खर्राटों की आवाज आने लगी।

कहानी के इस भाग में माँ की विचित्र स्थिति, और उसकी विवशता को बड़ी कुशलता से दिखाया गया है। बरामदे में कुर्सी पर बैठी, सोती हुई और खर्राटे लेती हुई माँ आखिर चीफ और अतिथियों के सामने पड़ ही गई। वही स्थिति सामने आ गई, जिसे श्यामनाथ टालना चाहता था। माँ हड़बड़ा कर उठी। श्यामनाथ ने चीफ द्वारा माँ को नमस्ते कहने के जवाब में माँ को हाथ मिलाने का आदेश दिया। माँ ने अपना बायाँ हाथ आगे कर दिया तो सब कहकहे लगाने लगे। हाथ मिला कर अभिवादन करना पश्चिमी ढंग है, पर माँ को इसके लिए विवश किया गया। पर ऐसा करते हुए वह सब के उपहास का पात्र बन गई। श्यामनाथ इतने पर संतुष्ट नहीं हुआ। चीफ ने माँ से पूछा "How do you do?" तो श्यामनाथ ने अनपढ़ माँ से अंग्रेजी शब्दों को दुहराने का आदेश दिया। पर जब माँ ''हौ डू डू' ही कह सकी तो फिर कहकहे की आवाज गूँज उठी। **माँ बेटे के आदेश का पालन करने और सब के उपहास के केन्द्र बनने के लिए विवश थी।** माँ की विवशता के कई करुण चित्र कहानी के इस भाग में देखे जा सकते हैं।

श्यामनाथ चीफ की खुशामद में इतना सक्रिय है कि उसे खुश करने के प्रयत्न में वह अपनी माँ का उपयोग करना आवश्यक मानता है। चीफ की इच्छा जान कर वह माँ से गाने की फरमाइश भी कर बैठा। यहाँ भी माँ की विवशता बड़ी करुण हो उठी। मना करते करते भी उसे पंजाबी लोकगीत गाना पड़ा और उसके गाने पर भी हँसी और कहकहों के स्वर तेज हो गए। उस दृश्य को कहानीकार ने यों प्रस्तुत किया है ''बरामदा तालियों से गूँज उठा। साहब तालियाँ पीटना बन्द ही न करते थे। श्यामनाथ की खीज प्रसन्नता और गर्व में बदल उठी थी। माँ ने पार्टी में नया रंग भर दिया था।'' (एक दुनिया समानान्तर - पृ. 228)

माँ की विवशता श्यामनाथ के लिए 'प्रसन्नता और गर्व' का कारण थी। यह प्रसन्नता कितनी झूठी है और गर्व कितना खोखला है, कहानी के पिछले भाग पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है, जहाँ श्यामनाथ की मुख्य चिन्ता यह थी कि माँ को चीफ की नजरों से कैसे दूर रखा जाए और उसे घर के कूड़े की तरह कहाँ छिपाया जाए।

कहानी के दूसरे भाग में एक और प्रसंग है, जिससे स्थिति का विद्रूप और स्पष्ट हो जाता है। चीफ के सामने फुलकारी का उल्लेख हुआ तो श्यामनाथ ने माँ को फुलकारी दिखाने का आदेश दे डाला। वह बिचारी अपनी पुरानी फटी फुलकारी ले आई। माँ की विपन्नता का हाल फटी हुई फुलकारी बता रही थी। इस स्थिति को कहानीकार ने यों प्रस्तुत किया

''साहब बड़ी रुचि से फुलकारी देखने लगे। पुरानी फुलकारी थी, जगह जगह से उसके तागे टूट रहे थे और कपड़ा फटने लगा था। साहब की रुचि देखकर श्यामनाथ बोले - 'यह फटी हुई है, साहब, मैं आपको नयी बनवा दूँगा। माँ बना देंगी। क्यों माँ, साहब को फुलकारी बहुत पसन्द है, इन्हें ऐसी ही एक फुलकारी बना दोगी न?''

माँ चुप रही। फिर डरते-डरते धीरे से बोली ''अब मेरी नजर कहाँ है, बेटा! बूढ़ी आँखें क्या देखेंगी।''

मगर माँ का वाक्य बीच में ही तोड़ते हुए श्यामनाथ साहब से बोले ''वह जरूर बना देंगी। आप उसे देख कर खुश होंगे।'' (वही पृ. 228)

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि श्यामनाथ माँ को नई फुलकारी लाकर नहीं दे सका, पर साहब के लिए वह नई फुलकारी बनवाने के लिए चिन्तित है। साहब को फुलकारी पसन्द है, यह बात उसके लिए अधिक महत्वपूर्ण है। माँ की नजर कमजोर है और नई फुलकारी बनाने के योग्य नहीं, यह बात उपेक्षणीय है। इसलिए माँ की असमर्थता और उसकी मनाही की उपेक्षा करके वह उसे साहब के लिए नई फुलकारी बनाने का आदेश देता है, क्योंकि साहब 'उसे देखकर खुश होंगे।' माँ की असमर्थता और विवशता के बावजूद श्यामनाथ को साहब की खुशी चाहिए। साहब खुश होंगे तो उसकी तरक्की होगी।

'चीफ की दावत' कहानी का अन्त बड़ा करुण और स्वाभाविक है। दावत के अंत में कहानीकार ने माँ की दयनीय अवस्था का जो चित्र खींचा है, वह बड़ा करुण तथा मार्मिक है। दावत के बाद माँ अपनी कोठरी में चली गई ओर अश्रु की नदी में डूब गई। आधी रात के बाद बेटे ने कोठरी का दरवाजा खटकाया तो माँ का दिल बैठ गया। वह अनेक आशंकाओं से भर उठी। वह सोचने लगी कि उस से फिर कोई भूल हो गई, जिसके लिए उसके बेटे ने उसे क्षमा नहीं किया। इस से अनुमान लगाया जा सकता है कि बूढ़ी माँ बेटे के घर में घुट-घुट कर जी रही थी। इस घुटन भरे वातावरण से मुक्ति पाने के लिए उसने बेटे के सामने प्रस्ताव रखा कि उसे हरिद्वार भेज दे, जिसे श्यामनाथ ने अपनी बदनामी के डर से स्वीकार नहीं किया। फिर उसने दूसरी चिन्ता यह प्रकट की

'तुम चली जाओगी तो फुलकारी कौन बनाएगा? साहब से तुम्हारे सामने ही फुलकारी देने का इकरार किया है।'

''मेरी आँखें नहीं हैं, बेटा, जो फुलकारी बना सकूँ। तुम कहीं और से बनवा लो। बनी बनाई ले लो।''

''माँ, तुम मुझे धोखा देकर यूँ चली जाओगी? मेरा बनता काम बिगाड़ोगी? जानती नहीं, साहब खुश होगा तो मुझे तरक्की मिलेगी।'' (वही, पृ. 229)

बेटे की तरक्की की आशा देख कर माँ ने फुलकारी बनाने का वादा कर लिया। बेटे को माँ की लाचारी का ध्यान नहीं आया, पर माँ बेटे की तरक्की की आशा देखकर अपनी लाचारी भूल गई और फुलकारी बनाने को तैयार हो गई। पुत्र के दुर्व्यवहार के बाद भी माँ बेटे की तरक्की की आशा मात्र से अपना दुख भूल गई।

श्यामनाथ की माँ वात्सल्य की प्रतिमा के रूप में चित्रित हुई है और श्यामनाथ मध्यवर्ग के एक दुनियादार, महत्वाकांक्षी, खुशामदी, प्रदर्शन-प्रिय, अवसरवादी व्यक्ति के रूप में ही दिखाया गया है। कहानीकार ने उसे 'मिस्टर शामनाथ' के रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ 'मिस्टर' शब्द मनमाने ढंग से 'श्री' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है, बल्कि पश्चिमी सभ्यता के रंग में डूबे उसके आधुनिक चरित्र का सूचक है।

22.4 कहानी का निहित उद्देश्य

चीफ की दावत कहानी नयी कहानी के दौर की एक विशिष्ट कहानी है। इसमें भी मध्यवर्गीय मानसिकता और पारिवारिक संबंध बड़ी कुशलता से समाविष्ट हुए हैं। लेकिन भीष्म साहनी, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर आदि भाववादी-व्यक्तिवादी कहानीकारों से भिन्न यथार्थवादी प्रगतिवादी कहानीकार हैं। इन्होंने स्वस्थ परम्परा और पारिवारिक संबंधों के महत्व को स्वीकार किया है। अन्य नए कहानीकार जहाँ माँ-बाप और सगे संबंधियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, वहाँ भीष्म साहनी ने संबंधों के महत्व को स्वीकार किया है। अतः इस कहानी में लेखक ने माँ को पुरानी परंपरा का एक प्रतीक भी माना है।

पार्टी के दौरान श्यामनाथ की महत्वाकांक्षा पर पानी फिर चुका था, क्योंकि पदोन्नति के संबंध में कोई बात नहीं हो पाई थी। माँ की वजह से श्यामनाथ का चीफ के साथ एक पारिवारिक रिश्ता कायम होता है, जिससे चीफ फिर घर पर आने और फुलकारी ले जाने का वादा करता है। इस तरह माँ रूपी परंपरा के कारण ही श्यामनाथ को पदोन्नति की आशा बंधती है और उसके साथ हार्दिक रूप से जुड़ पाता है। इन सभी तथ्यों को भीष्म साहनी ने माँ के माध्यम से अत्यंत बारीकी से संकेतित कर दिया है। गंदे कूड़े की तरह छिपाने की वस्तु बनने वाली माँ श्यामनाथ के लिए पदोन्नति का सार्थक दरवाजा बनकर प्रतिष्ठित हुई है। इस प्रकार भीष्म साहनी ने मध्यवर्गीय यथार्थ के टुच्चेपन पर एक प्रगतिशील परिप्रेक्ष्य अपनाया है। माँ के रूप में पुरानी किंतु स्वस्थ परंपरा त्याज्य नहीं, वरन् वरेण्य बनकर प्रस्तुत हुई है।

22.5 कहानी का कलात्मक पक्ष

यह कहानी यथार्थवादी शिल्प में लिखी गई है। इस प्रकार यह यथार्थवादी कहानी कही जा सकती है। मध्यवर्गीय परिवार की यथार्थ स्थिति का इसमें अंकन है। यथार्थ स्थिति के कई पक्ष इस में उद्घाटित हुए हैं, जैसे मध्यवर्गीय व्यक्ति की अवसरवादिता, आधुनिकता का आडम्बर, प्रदर्शन प्रियता, पारिवारिक रिश्तों के प्रति उपेक्षा श्यामनाथ के

व्यवहारों से प्रकट हुई है। साथ ही मध्यवर्गीय व्यक्ति की मानसिकता उसके व्यवहारों, शब्दों के माध्यम से भी व्यक्त हुई है, जिससे यथार्थ चित्रण में मनोवैज्ञानिकता का समावेश भी हो गया है। कहा जा सकता है कि कहानी में यथार्थ का चित्रण मनोविज्ञान के आलोक में किया गया है।

भीष्म साहनी यथार्थवाद का जो अर्थ लेते हैं, उस पर ध्यान दें तो यथार्थवादी शिल्प पर भी प्रकाश पड़ेगा। 'हिन्दी कहानी संग्रह' (प्रकाशक - साहित्य अकादमी, दिल्ली, पृ. 14, तृतीय संस्करण सन् 1994) की भूमिका में भीष्म साहनी ने यथार्थवाद के बारे में लिखा 'किसी घटना का यथावत् चित्रण ही यथार्थ नहीं कहलाता, उसकी तह में काम करने वाले तत्वों और अन्तर्विरोधों की पकड़ रचना को यथार्थवादी बनाती है।'

प्रस्तुत कहानी में चित्रित श्यामनाथ और उसकी पत्नी के व्यवहारों के पीछे छिपे स्वार्थों, और अन्तर्विरोधों को लेखक ने कुशलता से सूचित किया है। विभिन्न पात्रों के संवादों में उनकी मनःस्थितियाँ ध्वनित हो जाती हैं।

उपेक्षित माँ की घुटन उसके संक्षिप्त संवादों और विभिन्न क्रियाकलापों से स्पष्ट हो जाती है। समग्रतः कहा जा सकता है कि जीवन के यथार्थ और पात्रों के मनोविज्ञान का कुशल समन्वय इस कहानी में हुआ है। 'चीफ की दावत' कहानी में शहरी व्यक्ति की बोलचाल की भाषा प्रयुक्त हुई है, जिसमें संस्कृत शब्दों के बजाए उर्दू शब्दों, तद्भव शब्दों के प्रति लेखक की अधिक रूचि प्रकट होती है।

भीष्म साहनी मिली जुली भाषा के प्रयोग में सिद्धहस्त हैं। भाषा के बारे में उनका दृष्टिकोण शुद्धतावादी नहीं है। भाव स्थितियों के मूर्तीकरण के लिए उन्हें जिस किसी स्रोत से शब्द मिले वे ले लेते हैं। इस कहानी में आधुनिकता के सूचक कुछ अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी हुआ है, जैसे ड्रैसिंग गाउन, पाउडर, मिस्टर, नैपकिन, ड्रिंक, डिनर, चीफ, साइज़ आदि। श्यामनाथ संज्ञा के पहले कहानीकार ने 'मिस्टर' शब्द जानबूझ कर लगाया है, जो श्यामनाथ के व्यक्तित्व के अंग्रेजीकरण का सूचक है। कहानीकार ने श्यामनाथ को कई जगह 'मिस्टर श्यामनाथ' लिखा है। फिर मुख्य अतिथि के लिए भी 'चीफ' शब्द का प्रयोग किया है।

कहानी का शीर्षक 'चीफ की दावत' कहानी की मुख्य कथा वस्तु, उसके मुख्य घटना स्थल, और उसकी मुख्य संवेदना के अनुकूल है। 'चीफ' कोई भी हो सकता है, इसलिए उसका नाम नहीं बताया गया, पर प्रत्येक ' चीफ' को खुश करने के लिए उसे दावत देना जरूरी है। आधुनिक संस्कृति दिखावे की संस्कृति है, पर इस संस्कृति में माँ के लिए कोई स्थान नहीं है। इसीलिए दावत के समय माँ को कूड़े की तरह छिपाने की आवश्यकता महसूस होती है।

कहानी का शीर्षक कहानीकार की भाषागत रुचि की ओर भी संकेत करता है। शीर्षक कहानी से अलग नहीं होता। उसे उसका आवश्यक भाग ही मानना चाहिए। इसलिए प्रत्येक कहानी का कोई सधा हुआ शीर्षक होता है। यह शीर्षक भी सधा हुआ और सोच-समझकर बनाया गया है।

22.6 सारांश

प्रस्तुत कहानी के प्रथम भाग में 'चीफ की दावत' के लिए की जा रही तैयारी का वर्णन है। इसमें श्यामनाथ और उसकी पत्नी लगी है। उन्हें विदेशी चीफ की नजरों में

आधुनिक तथा सुसंस्कृत दिखने की अधिक चिंता है। इस चिंता के कारण से सामान्यतः पूरे घर की सजावट और विशेषतः ड्राइंग रूम की सजावट पर विशेष ध्यान देते हैं। प्रत्यक वस्तु को उसके उचित स्थान पर रखने और घर के कूड़े को कहीं छिपाने के लिए दोनों प्रयत्नशील है। वह ड्राइंगरूम को एक प्रदर्शनी बनाना चाहते हैं।

आधुनिकता और संस्कृति के प्रदर्शन की तैयारी में एक बाधा तब उपस्थित हो गई जब श्यामनाथ का ध्यान अपनी बूढ़ी माँ की ओर गया, जो उसकी नजरों में प्रदर्शन के योग्य नहीं है और इसलिए वह चीफ से मिलाने के योग्य नहीं है। तब बूढ़ी माँ उसके लिए एक फालतु सामान या कूड़े में रुपांतरित हो जाती है। कूड़ा और उसकी माँ में कोई अंतर नहीं रहता। श्यामनाथ अपनी माँ से दुर्व्यवहार करता है। इससे उसके सुसंस्कृत होने का पता नहीं चलता, बल्कि उसका टुच्चापन, उसकी अवसरवादिता और शूद्रता ही उजागर होती है।

कहानी में शुरू में यह भी दिखाया गया है कि जब श्यामनाथ का ध्यान अपनी माँ की ओर गया और उसे लगा कि उसे चीफ की नज़रों से ओझल नहीं किया जा सकता तो उसने माँ को प्रदर्शन योग्य बनाने का निश्चय कर लिया। पहले माँ को छिपाने की चिन्ता सता रही थी, अब वह माँ को प्रदर्शन की वस्तु बनाने में लग गया। उसने माँ को बताया कि कैसे कुर्सी पर बैठा जाए और वह कैसे कपड़े पहने। जैसे उसने ड्राइंग रूप और बरामदे में प्रत्येक वस्तु को उचित स्थान पर उचित ढंग से सजा दिया था, वैसे माँ को भी सजावट के सामान की तरह उचित स्थान पर उचित ढंग से बिठाने की कोशिश करने लगा। जब चीफ और अन्य अतिथि ड्राइंग रूम में हों तो माँ के लिए उचित स्थान बरामदे में कुर्सी निर्धारित की गई और उसे यह भी बता दिया गया कि वह कुर्सी पर पाँव लटका कर बैठे और सोये नहीं, क्योंकि सोने पर उसके खर्राटे दावत में बाधा डाल सकते हैं।

श्यामनाथ की एक चारित्रिक विशेषता अपनी झूठी सम्पन्नता के प्रदर्शन की भी है। आधुनिकता और सुसंस्कृति के प्रदर्शन की तरह वह अपनी समृद्धि का भी प्रदर्शन करना चाहता है। तभी उसने माँ से पूछा कि सोने की चूड़ियाँ कहाँ हैं और वह उन्हें पहन ले, ताकि अतिथियों को पता लग जाए कि उसकी बूढ़ी माँ हाथों में सोने की चूड़ियाँ पहने है। माँ द्वारा यह सूचना पाकर कि सारे जेवर उसकी पढ़ाई में बिक गए, श्यामनाथ तिलमिला जाता है। उसकी तीखी प्रतिक्रिया से माँ के प्रति अवमानना, कृतघ्नता तथा उसकी शुद्रता का पता चलता है। वह माँ की ममता का मूल्य चुकाने की बात कह कर उसके वात्सल्य का भी अपमान करता है।

यहाँ मध्यवर्गीय व्यक्ति की प्रदर्शन प्रियता, आधुनिकता और सुसंस्कृति का पाखंड, पारिवारिक जीवन मूल्यों का विघटन, बूढ़ों की दुर्दशा आदि समस्याएँ श्यामनाथ के क्रियाकलापों के माध्यम से सफलतापूर्वक उद्‌घाटित हो जाती हैं।

कहानी के दूसरे भाग में चीफ की दावत के समय के वातावरण का कुशल अंकन है। भोजन से पहले शराब का लम्बा दौर रात के साढ़े दस बजे तक चला। श्यामनाथ और उसकी पत्नी का खुशामदपूर्ण व्यवहार परिस्थिति के अनुकूल है। दावत में विदेशी अफसर सब की दृष्टियों का केंद्र है और उसकी पत्नी सब महिला अतिथियों की आँखों की पुतली बनी हुई है। दावत में सभी स्त्री पुरुष शराब पीते हुए दिखाए गए हैं। यह पश्चिमी सभ्यता का सूचक है।

इस रंगीन वातावरण से अलग श्यामनाथ की बूढ़ी माँ बरामदे में कुर्सी पर बैठी-बैठी थक कर सो गई और खर्राटों की आवाज वातावरण में गूँजने लगी। कहानी के इस भाग में माँ की विचित्र स्थिति और उसकी विवशता का कुशल वर्णन है।

मदिरापान के लम्बे सत्र की समाप्ति के बाद चीफ और अन्य अतिथि भोजन के लिए बरामदे में आए तो चीफ के सामने खर्राटे लेती माँ पड़ गई। श्यामनाथ ने माँ को चीफ का स्वागत करने के लिए कहा तो माँ ने हाथ जोड़ दिए, पर चीफ ने अपना हाथ बढ़ाया तो माँ को आदेश मिला कि वह साहब से हाथ मिलाए। उसने बायाँ हाथ आगे कर दिया, पर सबके उपहास और कहकहों का केन्द्र बन गई। चीफ द्वारा 'how do you do' कहने पर श्यामनाथ ने अनपढ़ माँ को अंग्रेजी शब्दों को दोहराने के लिए विवश किया और उससे जब 'हौ डू डू' कहते नहीं बना तो वह फिर सब के उपहास का पात्र बन गई। माँ की विवशता के कई करुण चित्र इस कहानी में बिखरे पड़े हैं।

चीफ की इच्छा जान कर श्यामनाथ अपनी माँ से गाने की फरमाइश कर बैठा। मना करते करते भी उसे एक पंजाबी लोक गीत की कुछ पंक्तियाँ गानी पड़ी। यह श्यामनाथ के लिए प्रसन्नता और गर्व की बात थी, क्योंकि माँ ने पार्टी में नया रंग भर दिया था।

कहानी के उस मोड़ पर बूढ़ी माँ की स्थिति तब और भी निरीह हो गई जब उसके बेटे ने आदेश दिया कि चीफ को अपनी फुलकारी दिखा दे। उसने पुरानी फटी हुई फुलकारी आगे कर दी। साहब ने फुलकारी में थोड़ी रुचि दिखाई तो श्यामनाथ ने तुरंत वादा कर लिया कि उसकी माँ उसके लिए नई फुलकारी बना देगी। उसकी सबसे बड़ी चिन्ता साहब को खुश करने की थी। साहब की खुशी पर उस ने अपनी बूढ़ी लाचार माँ की विवशता ओर कमजोर आँखों को न्योछावर कर दिया। माँ की असमर्थता के बावजूद उसे साहब की खुशी चाहिए। मध्यवर्गीय परिवार का आधुनिक व्यक्ति अपने बुजुर्गो की कितनी उपेक्षा करता है, वह बूढ़ी माँ के प्रति श्यामनाथ के व्यवहार से स्पष्ट है।

दावत के बाद माँ अपनी कोठरी में जा कर आँसुओं की नदी में डूब गई। आशंकाओं के बीच जब उसने कोठरी का दरवाजा खोला तो उसने घुटन भरे वातावरण से मुक्ति पाने के लिए श्यामनाथ से कहा कि वह उसे हरिद्वार छोड़ आए। माँ की घुटन और विषाद को अनदेखा कर श्यामनाथ क्रुद्ध होकर बोला - ''तुम चली जाओगी तो फुलकारी कौन बनाएगा?'' अपनी तरक्की का सपना दिखा कर उसने माँ को साहब के लिए फुलकारी बनाने के लिए राजी कर लिया। बेटे की कृतघ्नता के आगे माँ का वात्सल्य विजयी हुआ। बेटे की तरक्की की आशा में माँ अपना दुःख भूल गई।
कहानी का अंत करुण है, पर माँ की ममता को गौरवान्वित कर जाता है।

22.7 प्रश्न/अभ्यास

1. 'चीफ की दावत' कहानी में लेखक का मुख्य उद्देश्य क्या है ? उसकी सिद्धि में उसे कितनी सफलता मिली है?
2. 'चीफ की दावत' कहानी मध्यवर्गीय व्यक्ति की मानसिकता का दर्पण है - इस कथन का विशद विवेचन करें।
3. 'चीफ की दावत' एक यथार्थवादी कहानी है। कैसे?
4. 'चीफ की दावत' की कलात्मक विशेषताएँ स्पष्ट करें।
5. आधुनिक हिंदी कहानीकारों में भीष्म साहनी का स्थान निर्धारित करें।

इकाई 23 कर्मनाशा की हार : शिवप्रसाद सिंह

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य
23.1 प्रस्तावना
23.2 'कर्मनाशा की हार' कहानी का आशय
23.3 अंधविश्वास, रूढ़ियों में जकड़ा ग्रामीण समाज
23.4 मानवता के बचाव का संघर्ष
23.5 नई कहानी में आंचलिकता का आग्रह
23.6 सारांश
23.7 प्रश्न/अभ्यास
उपयोगी पुस्तकें

23.0 उद्देश्य

खंड 6 की दूसरी और इकाइयों के क्रम में 23वीं इकाई आपके सामने है। शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'कर्मनाशा की हार' पर यह आधारित है। ग्रामीण समाज में व्याप्त धार्मिक तथा परंपरागत अंधविश्वास, पाखण्ड की इस कहानी के माध्यम से कठोर आलोचना की हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- स्वतंत्रता के बाद भी ग्रामीण समाज में व्याप्त सामाजिक कुप्रथाएं, धार्मिक पाखण्ड, भ्रष्टाचार स्त्री संबंधी दुर्भावनाओं तथा अमानवीय प्रवृत्तियों के मूलभूत कारणों को समझ सकेंगे,
- ग्रामीण परिवेश का रूढ़ियों, अंधविश्वास में जकड़े रहना और आधुनिक सोच तथा वैज्ञानिक परिवर्तन के प्रति अविश्वास दर्शाने के पीछे की मानसिकता का परदाफाश कर सकेंगे,
- आंचलिक क्षेत्र के जनजीवन में घटित होने वाली घटनाओं के द्वारा भारतीय समाज और अंचल विशेष की समस्याओं को रेखांकित कर सकोगे,
- धार्मिक ग्रंथों का सहारा लेकर समाज में स्त्री की सामाजिक, आर्थिक, नैतिक स्थिति को निर्धारित करने तथा उसके अधिकारों को तय करने की पुरूष वर्चस्ववादी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- मानवीय संवेदनाओं, मानवीय गरिमा और जीवन मूल्यों के प्रति चिंतित इंसान की चिंताओं को रेखांकित कर सकेंगे।

23.1 प्रस्तावना

प्रेमचंद के बाद शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में पहली बार यथार्थ फलक पर ग्राम-जीवन को देखने, समझने और अभिव्यक्त करने की चुनौती स्वीकार की गई है। स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अंतर्विरोधों को देखने की सही दृष्टि शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में मिलती है। 'अंधेरा हंसता' की भूमिका में शिवप्रसाद सिंह लिखते हैं 'इन कहानियों का भाव आजादी के बाद की नयी उपेक्षाओं में झूलते है, नये सपने संजोये हुए। और लेखकीय दृष्टि इन सपनों का नकाब उतारकर उस जगत् का साक्षात्कार कराती है जो इन्हें मिला। इसमें आदर्श नहीं मोहभंग की दारूण स्थितियाँ हैं।'

शिवप्रसाद सिंह अपनी कहानियों के द्वारा उस मनुष्य के संघर्ष को उजागर करते है, 'जो अपने सामाजिक और वैयक्तिक हक के लिए लड़ता है, हंसता है, रोता है, बार-बार हारकर भी हार नहीं मानता।' अपने लक्ष्य से दूर भी नहीं होता और संघर्ष के द्वारा अपना लक्ष्य हासिल करने के लिए प्रतिबद्ध दिखाई देता। शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में परिवर्तनशील ग्राम जीवन के सामाजिक-राजनीतिक बोध को प्रधानता मिली है। आंचलिकता के साथ ही आधुनिकता का मूल स्वर, विद्रोह का स्वर, परम्परा और व्यवस्था की असुरक्षा का स्वर तथा संकट का स्वर मिलता है। 'आरपार की माला', 'कर्मनाशा की हार', 'इन्हें भी इंतजार है', 'मुरदा सराय', 'अंधेरा हंसता है', 'भेडिये' शिवप्रसाद सिंह के प्रमुख कहानी-संग्रह है। इनकी संपूर्ण कहानियों का संग्रह 'एक यात्रा सतह के नीचे' नामक पुस्तक, जो दो भागों में छपी है, में संग्रहित है। इन संग्रहों की कहानियों में विभाजन, मोहभंग, यांत्रिकता, विसंगतियाँ, पारिवारिक विघटन और राजनीतिक भ्रष्टाचार के अतिरिक्त सांस्कृतिक भावचेतना स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है।

'नई कहानी' आंदोलन के महत्वपूर्ण कहानीकार शिवप्रसाद सिंह मूलतः ग्रामीण यथार्थ के लेखक के रूप में पहचाने जाते हैं। उनकी कहानियों में रेणु की तरह लोक तत्वों का समुचित उपयोग तो दिखाई देता है,साथ ही आंचलिकता के प्रति विशेष आग्रह भी है। वे गाँव के यथार्थ को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करना चाहते हैं। गाँव का केवल रुमानी, रंगीन चित्र प्रस्तुत करने के वे एकदम विरोध में है। उनके अनुसार मेरे कुछ मित्रों की शिकायत है कि मैं गाँव के वातावरण का रंगीन और रोमांटिक चित्र उपस्थित करता हूँ। मैं मानता हूँ कि तथाकथित यथार्थवाद और प्रवृतिवाद के नाम पर गाँवों की गरीबी के अतिरंजित चित्र गाँवों को एकपक्षीय और प्राणहीन रूप में ही प्रस्तुत कर सके हैं। जिंदगी वहाँ रोती ही नहीं मुस्कुराती भी है। आंसू और हंसी के ये धूपछांही अंबर इन कहानियों के परिधान है।' ('आर-पार की माला' की भूमिका से)

शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'कर्मनाशा की हार' का इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे, इस कहानी में अभिव्यक्त ग्रामचेतना और सामाजिक, सांस्कृतिक सरोकारों के विश्लेषण द्वारा हम शिवप्रसाद सिंह की कहानी के कथ्य की विशेषता को समझने का प्रयास करेंगे।

'नई कहानी' के दौर के अन्य कहानीकारों से शिवप्रसाद सिंह की कहानी कुछ अलग दिखाई देती है। इसमें आंचलिकता और ग्रामीण परिवेश का अनोखा संगम दिखता है। भारत की स्वतंत्रता ने भारतीयों के मन में जगाई आशाओं के फलिभूत होने की कोई स्थिति यहाँ निर्माण नहीं हुई। शहरों में उपरी तौर पर हुई प्रगति ने शिक्षित बेरोजगारी को जन्म दिया। देश के नवनिर्माण का उत्साह धूमिल होता दिखाई देने लगा। युवा वर्ग में हताशा, मोहभंग और राजनीति के प्रति गहरी वितृष्णा भर गई। राजनीतिज्ञों द्वारा किए गए वादों को उन्हीं के द्वारा तोड़ते देखना और देशप्रेम के नाम पर किए जाने वाले ढोंग, उनकी कथनी और करनी के दो अलग-अलग रूप, उनके दोगले चरित्र ने युवा वर्ग में खीझ और बौखलाहट भर दी थी। शहरों में विकसित मोहभंग की यह स्थिति गांवों में कुछ देर से शुरू होती है। लेकिन वहाँ प्रगति अथवा विकास का कोई चिह्न नजर नहीं आता। गाँव तक जाने वाली सड़कें अभी भी कच्ची ही रही और बिजली को गांवों तक पहुंचने में पच्चीस से तीस वर्ष लगे। ऐसी स्थिति में गाँव अंधविश्वास और परंपराओं को ही ढोता रहा। देश की आजादी का ग्रामीणों के लिए अर्थ था, 15 अगस्त को झंडा फहराकर लड्डू बाँटना। स्वाधीन भारत के हिंदी साहित्य की प्रथम रचनाएँ 1950 के आस-पास लिखी जाने लगी। डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं *''यों कहानियों की*

नई प्रवृत्ति के लिए मोटे तौर पर सन् 1950 के आसपास का समय निर्धारित किया जा सकता है। इस सिलसिले में शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'दादी मां' जो 1951 के प्रतीक में छपी थी, दृष्टव्य है। इस कहानी ने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। मेरा ख्याल है इस तरह की कहानियों में गाँव की मिट्टी की जो सौंधी गंध थी वह ताज़गी से भरी तथा पर्याप्त आकर्षक थी।''

ग्राम्य-जीवन की अछूती घटनाओं को अभिव्यक्ति देकर यथार्थ का जो चित्रण शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में हुआ है, वह और रचनाकारों की रचनाओं में नहीं मिलता। आंचलिक जीवन की आंतरिक परख करके सामाजिक कुप्रथाओं, आर्थिक विडम्बनाओं, व्यभिचार, भ्रष्टाचार की घिनौनी तस्वीर का चित्रण करके वे अपने पात्रों को मानवीय संवेदना से परिपूर्ण बना देते हैं। 'कर्मनाशा की हार' की भूमिका में वे लिखते हैं *''मनुष्य और उसकी जिंदगी के प्रति मुझे मोह है, जो अपने अस्तित्व को उभारने के लिए विविध क्षेत्रों में विरोधी शक्तियों से जूझ रहा है। अंध-विश्वास, उपेक्षा, विवशता, अतृप्ति, शोषण, राजनैतिक, शोषण और क्षुद्र स्वार्थान्धता के नीचे पिसता हुआ भी, जो अपने सामाजिक व मनोवैज्ञानिक हक के लिए लड़ता है, हंसता है, रोता है, बार-बार गिरकर भी जो अपने लक्ष्य से मुंह नहीं मोड़ता, वह मनुष्य तमाम शारीरिक कमजोरियों और मानसिक दुर्बलताओं के बावजूद महान है।''कर्मनाशा की हार''* (संग्रह की भूमिका) शिवप्रसाद सिंह, पृ. 6

23.2 'कर्मनाशा की हार' कहानी का आशय

शिवप्रसाद सिंह यह मानते हैं कि *''स्वतंत्रता के बाद तो भारतीय बौद्धिकों का इतिहास सिर्फ आत्मबल के ह्रास का ही इतिहास है।''* वे यह भी मानते थे कि *''स्वतंत्रता का सही अर्थ हमारे देश ने आज तक भी नहीं समझा।''* इसका कारण उनकी समझ में *कदाचित यही रहा कि ''हमें स्वतंत्रता की प्राप्ति में खूनी संघर्षों के भीतर से काफी गुजरना नहीं पड़ा। हमने अपने को लोकतंत्र घोषित किया और इस घोषणा मात्र से आश्वस्त हो गए कि चूँकि हम लोकतंत्र हैं, इसलिए हमारी तरक्की और प्रगति के सभी समृद्ध लोकतंत्र स्वभावतः उत्तरदायी हैं।''* शिवप्रसाद सिंह की दृष्टि में यह लोकतंत्र बहुत ही कमजोर ओर शापग्रस्त है। इसके फल नकारात्मक है। इससे महान मूल्य उत्पन्न नहीं होते।

आजादी और लोकतंत्र के अर्थ को समझने में भारतवासियों ने बड़ी भूल की है। यहाँ जो भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ, अनेक समुदायों, जातियों में बँटी है, उन सभी ने अपनी-अपनी सुविधानुसार इससे अर्थ निकाले। सत्ताधारी उस मायने में जो कथित उच्च जाति, उच्चभ्रू, सवर्ण है, जो यहाँ की सामंतवादी व्यवस्था का पुरोधा और संरक्षक था, उसके लिए आजादी का अर्थ था पहले से मिले अधिकारों और सत्ता का दुरुपयोग करने की आजादी। अपनी अनगिनत संपदा/संपत्ति का बँटवारा न करके संपत्ति को अधिक बढ़ाने का सुअवसर प्राप्ति का आनंद। जमींदारी प्रथा के निर्मूलन के लिए बने कानून के बावजूद गाँवों, कस्बों में एक-एक पुराने सामंत और जमींदारों के पास पाँच सौ एकड़ से दो हजार एकड़ तक की भूमि पर कब्जा होना इस बात का प्रमाण है।

दूसरी ओर जो भूमिहीन किसान, मजदूर, अल्पभूधारक किसान, बेगार करने वाला अछूत भूमिहीन मजदूर था उसकी स्थिति में आजादी के बाद कोई बदलाव नहीं आया। अल्पभूधारक किसान अब भूमिहीन किसान मजदूरों में तब्दील हो गए, बेगार करने वाला

अछूत मजदूर गाँवों में आज भी बेगारी करने के लिए मजबूर किया जाता। मजदूरी बढ़ाने की केवल बात करने पर 'नारायणपुर बाथे' जैसे हत्या कांड करवा कर आवाज को दबा दिया जाता है। कुम्हेर जैसे अग्निकांड में जिंदा अछूतों को बच्चों, बूढ़ों, स्त्रियों के साथ भस्म कर दिया जाता। यह है गरीब, मजलूम, अछूतों के लिए स्वतंत्रता-आजादी-स्वाधीनता का अर्थ। भारत में न केवल दो संस्कृतियाँ रहती है बल्कि दो भिन्न प्रकार से जीवन जी रहे इंसानों के समूह रहते हैं। सुविधा, सत्ता, संपत्तिवान समूह जो सत्ताधारी भी है। इसे सुविधा संपन्न दूसरी दुनिया में जी रहे अभावग्रस्त, वंचित, शापित जीवन की कल्पना भी नहीं है। उसके आस-पास ही कीड़े-मकौड़ों की तरह बिलबिलाने वाली इंसानों की एक पूरी की पूरी कौम के प्रति उसके मन में कोई संवेदना नहीं जागती। स्त्री के प्रति यही रवैया दिखाई देता है। अंधविश्वास और रूढ़ियों में लिप्त ग्रामीण समाज की नृशंसता किस हद तक जा सकती है इसकी प्रचिति 'कर्मनाशा की हार' कहानी में चित्रित फुलमत की असहाय स्थिति से होती है। आधुनिक विचार, प्रगति, वैज्ञानिक सोच आदि का नईडीह गाँव के लोगों पर दूर-दूर तक कोई प्रभाव न दिखना, कछुआ गति से चल रहे विकास की ओर संकेत करती है। बिहार की एक अभिशप्त नदी 'कर्मनाशा' के किनारे ऊँचे टीले पर बसा है गाँव नईडीह।

कर्मनाशा के बारे में कहा जाता है कि कोई पौधा अगर पानी से एक बार छू ले तो वह हरा नहीं हो सकता। हर साल की तरह नदी में बाढ़ आई है। लेकिन इस बार की बाढ़ ने ज्यादा ही रौद्र रूप ले लिया है। गांव के सभी लोग चिंतित है कि बाढ़ को किस प्रकार रोका जाए।

सोखा के कहने पर पाँच बकरों की बलि पहले ही दे दी गई थी लेकिन कर्मनाशा का लाल गेरू जैसा पानी कम नहीं हुआ। तभी ईसुर भगत ने खबर दी थी कि सोखा ने भविष्यवाणी की है इतना पानी बरसेगा कि परलय होगी, कुछ भी नहीं बचेगा। अंधविश्वासी गांव ने तुरंत इसे सच मान लिया। तभी गांव की धनेसरा चाची ने खबर दी कि विधवा फुलमतियां ने लड़के को जन्म दिया। आग की तरह यह खबर सारे गांव में फैल गई। सभी ने इसे पाप करार देते हुए, बाढ़ के प्रकोप को इस पाप के साथ जोड़ दिया। गांव को बाढ़ में डूबने से बचाने का दायित्व गांव के मुखिया का माना जाता है। इसलिए मुखिया ने निर्णय लिया कि पाप करने वाली फलमति को उसके बच्चे सहित कर्मनाशा की बाढ़ में फेंक कर बलि दी जाएगी, तो अपने आप ही कर्मनाशा शांत हो जाएगी। निर्णय लिया ही नहीं गया बल्कि जब फुलमत को बच्चे समेत पानी में फेंकने का प्रसंग घटित हो रहा था और फुलमत की दर्दनाक चीखे सुनाई दे रही थी तो भैरों पांडे अपनी बैसाखी के सहारे उस ओर दौड़ पड़ा। वह जानता था कि फुलमत के बच्चे का बाप उसका छोटा भाई कुलदीप ही है।

दोनों में पल्लवित प्रेम को भैरों पांडे जानते ही न थे वे उन दोनों को विलग करने में सफल भी हो गए थे। कुलदीप तभी से घर से भाग गया था। भैरों पांडे के ब्राह्मण्य और ऊंची जाति के अहंकार के कारण दो युवा प्रेमी-प्रेमिका का विछोह हुआ था। अंतिम समय में भैरों पांडे ने बच्चे को फुलमत के हाथों से छीन कर मुखिया को ललकारा था, कि भैरों पांडे के रहते हुए कुलदीप के बच्चे और बहु की बलि नहीं चढ़ाई जा सकती। तथा मुखिया को सीख दी कि कर्मनाशा की बाढ़ 'दुधमुँहे बच्चे और एक अबला की बलि देने से नहीं रुकेगी, उसके लिए तुम्हें पसीना बहाकर बांधों को ठीक करना होगा।'

भैरों पांडे गांव के लोगों के सामने बच्चे और फुलमत को बचाकर एक चट्टान की तरह खड़े हो गए थे। कर्मनाशा पराजित होकर बह रही थी।

23.3 अंधविश्वास, रूढ़ियों में जकड़ा ग्रामीण समाज

हमारी समाज व्यवस्था अंधविश्वास, रूढ़ि-रीतियाँ, जातिप्रथा, अस्पृश्यता, स्त्री-पुरुष भेदभाव, ऊंच-नीच के भेदभाव, सांप्रदायिकता जैसी अनेक कुप्रथाओं, विश्वासों से जकड़ा हुआ है। जहाँ कुल साक्षरता का प्रमाण केवल 26 प्रतिशत है और स्त्रियों में साक्षरता का प्रमाण 10 प्रतिशत है, वहाँ पर वैज्ञानिक सोच और वैज्ञानिक आविष्कारों पर विश्वास के स्थान पर टोने-टोटको, ओझाओं के अमानुषिक पाखण्ड, धार्मिक आडंबर, अंधविश्वास फैलाने वाले अघोरी कृत्यों पर ही तो समाज विश्वास करेगा। ग्रामीण परिवेश अभी भी सूचना और तकनीकि के तेजी से हो रहे विकास के समय में पानी, बिजली और पक्की सड़कों के न पहुँचने से अन्य दुनिया से कटा हुआ है। यह समाज आज भी कुल-खानदान की मान-मर्यादा, जातिगत कठोरता और धर्म की खोखली मान्यताओं के कारण एक बंद समाज है। यह केवल मान्यताएं ही नहीं है, बल्कि ग्रामीण समाज की रूपरेखा तय करने में इतनी अहम् भूमिका है। 'कर्मनाशा की हार' ऐसी ही रूढ़ियों पर आधारित परिवेश प्रधान कहानी है। नरबलि देकर बाढ़ से गाँव की रक्षा करना ऐसी ही रूढ़ि है। ये रूढ़ियां तर्क से बिलकुल अछूती होती है। भैरों पांडे इसे तार्किक आधार देने की कोशिश करते हैं। इस तरह की तमाम रूढ़ियाँ आज भी ग्रामीण परिवेश में भरी पड़ी है। *'पिछली साल अचानक जब नदी का पानी समुद्र के ज्वार की तरह उमड़ता हुआ, नईडीह से जा टकराया, तो सोखा ने जान के बदले जान देकर पूजा की, पाँच कबरों की दौरी भेंट हुई, किंतु बढ़ी नदी का हौसला कम न हुआ। एक अन्धी लड़की, एक अपाहिज बुढ़िया बाढ़ की भेंट रही। नईडीह वाले कर्मनाशा के इस उग्र रूप से कांप उठे, बूढ़ी औरतों ने कुछ सुराग मिलाया। पूजा-पाठ कराकर लोगों ने पाप-शांति की।'*

अगले साल की बाढ़ ने अधिक रौद्र रूप धारण कर लिया था। 'बादलों की छाँव में सोया गांव भोर की किरण देखकर उठा तो सारा सिवान रक्त की तरह लाल पानी से घिरा था। नईडीह के वातावरण में हौलदिली छा गई। गाँव ऊँचे अरार पर बसा था, जिस पर नदी की धारा अनवरत टक्कर मार रही थी, बड़े-बड़े पेड़ जड़-मूल के साथ उलटकर नदी के पेट में समा रहे थे, यह बाढ़ न थी, प्रलय का संदेश था।'

कर्मनाशा का ऐसा डरावना रूप देखकर सारा गांव पहले ही बचाव के साधन जुटा रहा था, तभी ईसुर भगत खबर ले आया था कि दीनापुर के सोखा ने कहा है कि 'इतना पानी गिरेगा कि तीन घड़े भर जाएंगे, आदमी-मवेशी की छय होगी, चारों ओर हाहाकार मच जायेगा, परलय होगी।' यह सुनते ही घनेसरा चाची ने, जो न केवल द्वारा की की गई भविष्यवाणी पर विश्वास कर रही थी, बल्कि इस प्रलय के पीछे गांव में घटित घटना का तुरंत संबंध जोड़कर कहने लगी 'परलय न होगी, तब क्या वरक्कत होगी? हे भगवान, जिस गांव में ऐसा पाप करम होगा वह बहेगा नहीं, तब क्या बचेगा?' धनेसरा चाची ने विधवा फुलमत के हुए बच्चे की पूरी कहानी गांव को सुना दी थी। साथ-साथ सारा दोष अकेली फुलमत पर मढ़ कर बोली, 'राम रे राम, कुतिया ने पाप किया, गांव के सिर बीता!' 'आग लगे ऐसी कोख में। तीन दिन की बिटिया और पेट में ऐसी घनघोर दाढ़ी।'

लेकिन जगेसर पांडे ने जब साफ साफ बात पूछी तो, वह बोली, 'हुआ क्या, फुलमतिया राँड मेमना ले के बैठी है। विधवा लड़की बेटा बियाकर सुहागिन बनी है।' लोगों को परलय की सूचना देकर, हवा में उडते आँचल को बरजोरी बस में करती चाची दूसरे चौराहे की ओर बढ़ चली।

विधवा फुलमतिया को नईडीह का समाज पापिन समझ बैठा था। अब उसके प्रति केवल घृणा-तिरस्कार ही रह गया था। जैसे ही कर्मनाशा में आई बाढ़ का प्रलय में रूपांतर होने की बात भगत ने कही, तब से कर्मनाशा के प्रकोप के कारण को फुलमंतिया द्वारा हुए भयंकर अपराध से जोड़ दिया गया। ग्रामीण समाज दो जातियों के युवक-युवती के बीच प्रेम संबंध को कभी भी मान्यता नहीं देता। जिस समाज व्यवस्था में विधवा विवाह का निषेध है, वह हिंदू धर्मीय समाजव्यवस्था विधवा को प्रेम करने का अधिकार नहीं देती। परंपरागत सामंती समाज स्त्री को किसी भी प्रकार की आजादी नहीं देता। हिंदू धर्म शास्त्र, पुराण और स्मृतियाँ स्त्री को जिंदा जलाए जाने को सती की उपाधि देकर महिमामंडन करती है, विधवा विवाह को मान्यता नहीं देती और बाल विवाह का पुरस्कार करती है। हिंदू धर्म और असमान व्यवस्था फुलमत जैसी बाल विधवाओं को एक आश्रिता बनकर रहने, तथा इच्छा, आकांक्षा, जीवनेच्छा को तजकर, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अधिकारों से वंचित निरपेक्ष जीवन जीने की परिपाटी पर चलने की सलाह देता है। भैरो पांडे भी इसी परंपरागत सोच में लिप्त है। वह कुलदीप और फलमत में अंकुरित प्रेम को देख व समझ रहा था। वह कुलदीप को फुलमत से प्रेम न करने की हिदायत भी देता है। उस पर कड़ी नजर रखकर उसके हाव-भाव निहारता रहता है। कुलदीप के खोये-खोये से रहने पर भैरों पांडे मन ही मन फुलमत को भला-बुरा कहता रहता है। *'उन्हें फुलमत पर बेहद गुस्सा आता। टीमल मल्लाह की यह विधवा लड़की मेरा घर चौपट करने पर क्यों लगी है। पता नहीं, कहाँ से बह-दह कर यहाँ आकर बस गये। कुलच्छनी अब क्या चाहती है, बाप मरा, पति मरा, अब न जाने क्या करेगी। जाने कौन-सा मंत्र पढ़ा दिया। यह कबूतर की तरह मुँह फुलाये बैठा रहता है।'*

भैरो पांडे अपनी कुल-मर्यादा और झूठे जाति अहं के कारण प्रेम का कठोर निषेध और तिरस्कार करने लगते हैं। प्रेम की स्वतंत्रता को सामंती समाज कभी भी मान्यता नहीं देता। जो सामंती समाज स्वतंत्रता का कट्टर विरोधी हो वह प्रेम की स्वतंत्रता को खारीज कर देता है, जिसका भैरों पांडे भी निर्वाह कर रहे हैं।

कुलदीप को भैरों पांडे समझाते हुए उपदेश देते हैं ''तुम गलत रास्ते पर पांव रख रहे हो बेटा, तुमने कभी अपने बाप-दादों की इज्ज़त के बारे में सोचा है?'' कुल-खानदान की इज्ज़त की दुहाई देकर भैरो पांडे अपने छोटे भाई कुलदीप के लिए प्रेम के रास्ते से लौट आने को कह रहे थे। कुलदीप को भाई के मन की पीड़ा की कल्पना भी कष्टकारी थी। यह पुरानी और नई पीढ़ी के बीच की दुविधा थी। ''उसकी आत्मा अपने संपूर्ण भाव से जिस वस्तु को वरेण्य समझती है, उसे वह एकदम ही व्यर्थ कैसे कह दे? जिस छाया में न जाने क्यों उसे एक अंजाने आनन्द का अनुभव होता है, उसे कालिख कह सकना उसके वश की बात नहीं थी।''

शिवप्रसाद सिंह कुलदीप के द्वारा ग्रामीण जीवन की इस कुंठाग्रस्त, कठोर कट्टरतावादी मानसिकता के खिलाफ विद्रोह का स्वर प्रकट करते हैं। सबसे प्रबल रूप में यह रूढ़ियों को लेकर प्रकट हुआ है। तमाम आधुनिक आविष्कारों, प्रगतिशील जीवन मूल्यों के आगमन के बावजूद हमारा ग्रामीण जीवन पुरातन पुरोहितवादी परंपराओं की खोल को अपने ऊपर लादे हुए है। इससे समाज की प्रगति तो पिछड़ती ही है, व्यक्ति की भावनाएँ कुंठित होकर उसके जीवन को नष्ट कर देती है। मानवीय विकास अवरुद्ध होकर रह जाता है। कर्मनाशा की हार इसकी सशक्त प्रस्तुति है। मनुष्य के कर्म को नष्ट करके उसके ऊपर सामाजिक रूढ़ि और नियति का अभिशाप लादने वाली उस समूची प्रवृत्ति के विरोध को प्रस्तुत करने में 'कर्मनाशा की हार' का अपना महत्वपूर्ण योगदान है।

23.4 मानवता के बचाव का संघर्ष

निम्न जाति की विधवा फुलमतिया से प्यार करने वाला कुलदीप समाज और भैरों पांडे के भय से उसे गर्भवती छोड़कर भाग खड़ा होता है। जब कर्मनाशा में बाढ़ आती है, तब फुलमत कुलदीप के बच्चे की मां बन चुकी होती। जिसे फुलमत के पाप का परिणाम मानकर गांव का मुखिया उसके बच्चे सहित बलि देने को तैयार हो जाता है। एक तरफ धर्म, समाज, संस्कृति, परंपरा और नीतिमूल्यों के खोखले आदर्शों को ढोता हुआ निर्दयी ठाकुर मुखिया है। तो दूसरी तरफ छोटे भाई के भाग जाने से आहत भैरों पांडे, जो उसी झूठी परंपरा, इज्जत, जाति अहं का राग अलाप रहा है। वह भी उसी समाज का हिस्सा है। लेकिन एकाध पल के लिए वे यहाँ तक सोच पाते हैं कि 'काश, फुलमति अपनी ही जाति की होती।' लेकिन यहाँ तो ऊँची जाति भी नहीं और ऊपर से विधवा। यद्यपि उसका रूप, स्वभाव, संकोच सब कुछ किसी को भी शोभा देने लायक था। भैरों पांडे के मन में जो घायल भ्रातृ प्रेम छुपा हुआ है, वह कभी प्रकट रूप में सोचना शुरू कर देता। फुलमति की तुलसी पूजा करते समय की छवि उन्हें मानवीय बनाती है। लेखक कहानी के माध्यम से ग्रामीण परिवेश में जिस परिवर्तन को लाना चाहते हैं, उसके अंश भैरों पांडे के मन में ही छुपे हुए हैं। उसी आंतरिक मानवीय संवेदना को उद्वेलित करना लेखकीय कर्तव्य बन जाता है। तभी बहुत क्रोध आने पर भी कुलदीप को 'पापी, नीच.....' कह कर एक थप्पड़ तो वे रसीद कर देते हैं, लेकिन फुलमति को केवल चेतावनी दे देते हैं, 'क्यों खड़ी है डायन, भाग नहीं तो तेरा गला घोंटकर इसी पानी में फेंक दूँगा।'

लेकिन जब पूरा गाँव फुलमति और उसके नवजात शिशु को कर्मनाशा में फेंक कर उनकी नरबलि देना चाहता है तो वही भैरों पांडे उखड़ गए। मानवीय मूल्य जो परिस्थितिवश, अचेतन अवस्था में पड़े थे, वे फूटकर बाहर आ गए। लंगड़े पांडे ने जब यह सुना कि गाँव का मुखिया फुलमति को उसके बच्चे सहित कर्मनाशा की बलि चढ़ाने जा रहा है। तो एक बार को उन्होंने भी सोचा, 'चलो, न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। हूँ, चली थी पांडे के वंश में कालिख पोतने।' लेकिन मुखिया के अमानुषिक अत्याचार को देखकर उनके अंदर का रहा सहा गुस्सा जाता रहा। अब उसने करुणा, मानवीय संवेदना और आतंक के विरोध का रूप धारण कर लिया। मुखिया ने उन्हें पूछा था ''तुम्हारी क्या राय है भैरो पांडे। सारे गांव को मौत के मुँह में नहीं झोक सकते। जिसने पाप किया है उसका दंड भी वही भोगे.....।'' पांडे ने देखा मुखिया का विरोध करने कोई भी आगे नहीं आ रहा, सभी को अपने-अपने प्राणों का मोह था। कोई भी इस अन्याय के विरोध में बोलने तक के लिए तैयार नहीं था। न ही किसी में साहस था।

'एक वीभत्स सन्नाटा। पांडे ने आकाश की ओर देखा, आगे बढ़े, फुलमति भय से चिल्ला उठी। पांडे ने बच्चे को उसकी गोद से छीन लिया।' और दहाडते हुए कहा ''मेरी राय पूछते हो मुखिया जी? तो सुनो, कर्मनाशा की बाढ़ दुधमुँहे बच्चे और एक अबला की बलि देने से नहीं रुकेगी, उसके लिए तुम्हें पसीना बहाकर बाँधों को ठीक करना होगा..... कुलदीप कायर हो सकता है, वह अपने बहू-बच्चे को छोड़कर भाग सकता है, किंतु मैं कायर नहीं हूँ, मेरे जीते-जी बच्चे और उसकी माँ का कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता.....समझे।'' इसके बाद भी समाज शांत नहीं होता, वह फुलमत ने किए पाप के बदले में दंड भोगने की व्यवस्था करने में व्यस्त है। रूढ़ियों की जकड़बन्दी बहुत सख्त है। तब फिर पांडे कमर्नाशा का असली अर्थ स्पष्ट करते हुए ललकार पड़ते हैं ''मैं आपके समाज को कर्मनाशा से कम नहीं समझता। किंतु मैं एक-एक पाप

गिनाने लगूँ तो यहाँ खड़े सारे लोगों को परिवार समेत कर्मनाशा के पेट में जाना पड़ेगा.....है कोई तैयार जाने को.....?"

भैरों पांडे रूढियों में जकडे समाज को कर्मनाशा से कम नहीं मानते। उनकी दृढ़ता के आगे यह कर्मनाशा रूपी समाज हार जाता है। ग्रामीण समाज का जो रूप स्वातंत्र्योत्तर कहानी में उभरा है, वह समाज की व्यवस्था से संघर्षरत है तथा आज की परम्परागत मान्यताओं की सदियों पुरानी कारा से मुक्त होने के लिए बेचैन है।

23.5 नई कहानी में आंचलिकता का आग्रह

ग्रामीण परिवेश की जिंदगी पर कहानी लेखन में शिवप्रसाद सिंह का विशेष योगदान है। इसके पीछे कहानीकर का उद्देश्य था कि आजादी का सरकार की योजनाओं तथा विकास कार्यक्रम का गाँव की जिंदगी पर कितना प्रभाव पड़ा है, यह दिखाना। स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अंतर्विरोधों को दूर करने की सही दृष्टि का विकास और ग्रामीण जनता को परिवर्तीत करने का प्रयास इस कहानी का मुख्य केन्द्र बिंदु है।

बिहार के नईडीह गाँव के परिवेश के यथार्थ रूप को चित्रित करके शिवप्रसाद सिंह ने एक पिछड़े राज्य के पिछड़े गांव को हमारे समक्ष साकार किया है। कर्मनाशा में आई बाढ़ ने नईडीह के लोगों के शांत जीवन को उद्वेलित कर दिया था। तब अपने जीवन के बचाव के लिए चिंतित ग्रामीण लोग अंधविश्वास का सहारा लेकर, अमानवीय प्रवृत्तियों को प्रदर्शित करते हैं। आंचलिक जीवन की इस आंतरिक परख द्वारा लेखक ने कुप्रथाओं, रुढ़ियों, स्वार्थ प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला है।

आंचलिकता की विशिष्टता को चित्रित करने के क्रम में शिवप्रसाद सिंह नईडीह के ग्रामवासियों द्वारा वर्षा आने पर कजली-सावन की ताल पर ढोल के बजाने के प्रसंग का वर्णन करते हैं। *"गेरू की तरह फैले हुए अपार जल को देखकर खुशियाँ मनाते, दो चार दिन की यह बाढ़ उनके लिए तब्दीली बनकर आती, मुखियाजी के द्वार पर लोग बाग इकट्ठे होते और कजली-सावन की ताल पर ढोलके ठनकने लगती।"* यही गांव के लोगों का अपने मन को रिझाने का और आनंद प्रकट करने का ज़रीया है। अन्य समय पर अत्यंत निरागस और भोले-भाले स्वभाव के ग्रामीण लोग अंधविश्वास के कारण इतने वहशी और स्वार्थी बन जाते हैं कि फलमत को बच्चे सहित.....पानी में फेंककर अपनी जान बचाना चाहते हैं।

भारत में आजादी के बाद ग्रामोद्धार, ग्राम स्वराज्य और ग्रामीण विकास की दिशा में विशेष ध्यान देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। साढ़े पाँच लाख गांवों का यह देश एक तरह से देश की असली पहचान उभरने वाला चित्र फलक माना जाना चाहिए। कवियों और कथाकारों में यह अहसास बहुत तीव्रता से घर कर रहा था कि गांवों की ओर फिर से दृष्टिपात किया जाना चाहिए। गांवों के पिछड़ेपन के कारणों को जानने के प्रयास के साथ-साथ, गांवों की अपनी संस्कृति, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक गतिविधियों में आए बदलाव, तनाव, आजादी के बाद ग्राम्य जीवन में हो रही कुलबुलाहट आदि को समेट कर ग्रामीण छवि के यथार्थ रूप को तलाशा जाए। हिंदी में आंचलिकता का यह आंदोलन निश्चित रूप से आजादी के बाद के वर्षों में हुई नई हलचलों के परिणामस्वरूप उभरा था। स्वतंत्रता के बाद का दशक जनमानस के भीतर तीव्र अभिलाषाओं, इच्छाओं

को जगाने वाला दशक कहा जा सकता है। लम्बे समय तक लड़े गए आजादी के आंदोलन में जन साधारण ने जिन अमूर्त सपनों को देखा था उसके तुरन्त पूर्ण होने के प्रति अधीरता थी। इसी समय समाज के विभिन्न वर्गों के भीतर के अन्तर्विरोध सतह पर आने लगे थे। अवसरवाद, भ्रष्टाचार, जातीयता तथा साम्प्रदायिकता का जहर समाज के भीतर से फूट कर बाहर आने लग गया था। नई कहानी आंदोलन के विचारकों और भाष्यकारों ने जिसे मोहभंग की स्थिति कहा, बहुत कुछ इन्हीं परिस्थितियों की देन थी।

यद्यपि यह स्पष्ट है कि आंचलिकता का आंदोलन अपने आप में लोक जीवन की ताजगी और स्फूर्ति को समेटे हुए था। इसमें लोकजीवन की सहज उत्फुल्लता, रागात्मकता तथा आस्था प्रकट होती है। साथ ही निराशा की चोट, मोह भंग की वेदना और विफल इच्छाओं की छटपटाहट भी प्रकट होती है। आंचलिक कथाकारों ने अपनी कहानियों के माध्यम से सामाजिक यथार्थ के अनेक पहलुओं को उजागर करना शुरू कर दिया था। ग्राम्य जीवन की पृष्ठभूमि में रची हुई कहानियों में यथार्थ का स्वर उभर कर कहानीकार एक ओर शोषित और पीड़ित कृषक समाज के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित कर रहे थे तो दूसरी ओर यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय भी दे रहे थे।

आंचलिकता को समझने में यह ध्यान देने की बात है कि अधिकांश रचनाओं में ग्रामीण जीवन चित्रण भी है और ग्रामीण जीवन चेतना भी। लेकिन ग्रामीण जीवन चित्रण और ग्रामीण चेतना से संपन्न कहानी में अंतर सहज ही दृष्टिगत होता है। इस अंतर को हम प्रेमचंद के समय की कहानी और प्रेमचन्दोत्तर काल में रची गयी ग्रामीण पृष्ठभूमियों पर रची हुई कहानियों में स्पष्ट रूप से देखते हैं। इसके बारे में डॉ. शिवप्रसाद सिंह अपना मत इन शब्दों में व्यक्त करते हैं *''अक्सर सम्पूर्ण ग्राम कथा साहित्य को आंचलिक मानने का भ्रम हिंदी में फैला है। ग्राम कथा ज्यादा व्यापक भावभूमि की वस्तु होती है। ग्राम जीवन सभी साहित्यों की परिचित वस्तु होता है, जबकि आंचलिकता एक खास प्रकार के विशिष्ट श्रेय के जीवन से अपने को सम्पूर्णतः सम्बद्ध कर देती है। उस जीवन को पूर्णतः उपेक्षित और अछूता समझकर उसके समग्र रूप का छोटे-से-छोटे रूप में पुनः प्रस्तुतिकरण आंचलिकता का लक्ष्य होता है - प्रत्येक ग्राम कथा आंचलिक नहीं होती जबकि प्रत्येक आंचलिक कथा ग्राम कथा हो सकती है।''* (आंचलिकता और आधुनिक परिवेश - डॉ. शिवप्रसाद सिंह, कल्पना, मार्च 1965)

'कर्मनाशा की हार' कहानी में शिवप्रसाद सिंह ने आंचलिक जीवन के भीतर की समस्याओं को उजागर किया है। नईडीह गांव की सामाजिक जड़ता, बंधन, रूढ़ियाँ और शोषण के दायरों के क्रमशः टूटने की आवश्यकता तथा नए परिवर्तन की तरफ ले जाने वाले विचारों को भैरों पांडे के द्वारा प्रकट किए है। भैरो पांडे अपने छोटे भाई कुलदीप के भाग जाने पर उसकी पत्नी व बच्चे को संभालना, स्वयं का कर्तव्य मानते हैं। साथ ही समाज के कथित उच्चवर्ग को उनके चरित्र का यथार्थ बताने से भी नहीं झिझकते - *''मैं आपके समाज को कर्मनाशा से नहीं समझता। किंतु, मैं एक-एक के पाप गिनाने लगू तो यहाँ खड़े सारे लोगों को परिवार समेत कर्मनाशा के पेट में जाना पड़ेगा..... है कोई तैयार जाने को?''*

शिवप्रसाद सिंह ने एक आंचलिक कहानीकार के रूप में नईडीह के अंचल में झांककर वहाँ के जनजीवन के भीतर घटित होने वाले कार्य व्यापारों के प्रति ध्यान आकर्षित करके, भारतीय समाज और विशेष रूप से अंचल विशेष की समस्याओं को रेखांकित किया है।

आंचलिक कहानियों में जहाँ समस्याओं की ओर निर्देश किया है वहाँ पारिवारिक एकता, मेल'जोल, त्याग और आदर्शों का भी ध्यान रखा गया है। जैसे 'भैरों पांडे छोटे भाई के लिए अनेक कष्ट सहते हैं। दिन भर बरामदे में बैठ कर रूई से बिनौले निकालते तूंगते, सूत तैयार करते और अपनी तकली पर, नचा-नचा कर जनेऊ बनाते, जजमानी चलाते, पत्रा देख लेते, सत्यनारायण की कथा बांच देते ओर इससे जो कुछ मिलता, कुलदीप की पढ़ाई, उसके कपड़े-लत्ते आदि में खर्च हो जाता।'

अंचल की धार्मिक समस्याएँ

अंचल, जहाँ एक ओर आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं से घिरे हैं तो धार्मिक व सांस्कृतिक समस्याएँ भी अंचलों में किसी न किसी रूप में व्याप्त है। अंचल की भौगोलिक स्थिति भी धार्मिक और सांस्कृतिक रीति रिवाजों के निर्माण में अपनी भूमिका रखता है। उसी प्रकार धर्म और धार्मिक संस्थाएं भी भारतीय जीवन मूल्यों के निर्धारण में अपनी प्रमुख और कट्टर भूमिका का निर्वाह करता है। आधुनिक युग बोध में भी पुरातन धार्मिक व्यवस्था, धार्मिक मानदंड, धर्म के द्वारा बांटी गई सामाजिक जाति व्यवस्था आज भी उसी रूप में यहाँ पर कायम है। वैज्ञानिक सोच और आधुनिकता का बहुत कम प्रभाव हमारे कस्बों, नगरों और गांवों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक व्यवस्था पर पड़ा है।

कर्मनाशा की बाढ़ को रोकने के लिए बांध की आवश्यकता को नईडीह का समाज महसूस ही नहीं करता। धार्मिक अंधविश्वास के प्रभाव को वहन करता यह पुरातनपंथी समाज एक अबला स्त्री और उसके नवजात शिशु की बलि देकर ही कर्मनाशा की बाढ़ को रोकने में विश्वास रखता है। नईडीह का अंधविश्वासी समाज कर्मनाशा की बाढ़ को नैसर्गिक आपदा के रूप में नहीं देखता। विधवा लड़की फुलमति का कुलदीप से प्रेम और फलस्वरूप बच्चे के जन्म को पाप के रूप में देखते हैं।

'कर्मनाशा की हार' में लेखक ने केवल व्यक्ति विशेष को ही चित्रित नहीं किया बल्कि समूचे अंचल की झांकी उपस्थित की है। यहाँ पूरा अंचल ही नायक बन जाता है। साथ ही प्रस्तुत कहानी में परिवेश की जीवन्तता, अनुभव की ताजगी और जीवन संघर्ष से जूझने वाले पात्रों की मनःस्थिति को प्रकट किया है। लोक प्रचलित ग्रामीण शब्दों और भाषा शैली के कारण इस कहानी को विशेष ग्रामीण कलेवर प्राप्त हुआ है। पूर्वी उत्तर प्रदेश के जनजीवन का चित्रण इस कहानी का कथ्य है।

प्रतीकात्मक भाषा के माध्यम से बैसाखी पर चलने वाले भैरों पांडे के अपराजेय व्यक्तित्व के सामने झूठे विश्वास, मूल्य और आडम्बरों को ओढ़ने वाला समाज पराजय का अनुभव कर रहा है। *''जिन उद्धत लहरों की चपेट से बड़े-बड़े विशाल पीपल के पेड़ धराशायी हो गए थे, वे एक टूटे नीम के पेड़ से टकरा रही थी, सूखी जड़ें सख्त चट्टान की तरह अडिग थीं, लहरें टूट-टूट कर पछाड़ खाकर गिर रही थीं। शिथिल..... थकी..... पराजित।''* यहाँ नीम के टूटे पेड़ से अपंग भैरों पांडे और उद्धत लहरों को ढोंगी समाज के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। भाषा की काव्यात्मकता का भी बहुत सुंदर प्रयोग इस कहानी में किया गया है। मानव मन की गंभीर अनुभूतियों का चित्रण काव्यात्मक भाषा में किया गया है 'चाँदनी की झीनी-परत सघन होती जा रही थी, सुनसान किनारे पर भटकी हवा की सनसनाहट में आवाजों का अर्थ खो जाता, कभी हल्के हास्य की नर्म ध्वनि, कभी आक्रोश के खुलखुले, कभी उल्लास तरंग कभी सिसकियों की सरसराहट।'

23.6 सारांश

'कर्मनाशा की हार' में कहानीकार की प्रगतिवादी विचारधारा उभर कर आई है। समाज के ढोंग और पाखंड को तोड़ने का प्रयास कहानी के द्वारा किया गया है। छोटे भाई कुलदीप के दलित कन्या से प्रेम करके भाग जाने पर भैरों पांडे समाज के सामने फुलमत को उसके बच्चे सहित अपनी बहू के रूप में स्वीकार करते हैं।

शिवप्रसाद सिंह की कहानी ग्रामीण जीवन की विविध स्थितियों के खिलाफ विद्रोह का स्वर बुलंद करती है। सबसे प्रबल रूप में यह विद्रोह समाज में व्याप्त रूढ़ियों को लेकर प्रकट हुआ है। तमाम आधुनिक आविष्कारों, प्रगतिशील जीवन मूल्यों के आगमन के बावजूद हमारा ग्रामीण जीवन अनेक रूढ़ियों में ग्रस्त है। जो न केवल प्रगति की पीछेहाट है बल्कि व्यक्ति की भावनाओं को कुंठित करती है। इससे मानव विकास अवरुद्ध होकर रह जाता है। राजेन्द्र अवस्थी ने इसे इन शब्दों में सराहा है *''कर्मनाशा की हार' (कहानी) मनुष्य के कर्म को नष्ट करके उसके ऊपर सामाजिक रूढ़ि और नियति का अभिशाप लादने वाली उस समूची प्रवृति के विरोध का प्रतीक है।''*

डॉ. सिंह रूढ़ियों की दीवारों को तोड़ते, स्वस्थ आधुनिक विचार संपदा की आवाज बुलंद करते भैरों पांडे को खड़ा करते हैं ''कर्मनाशा की बाढ़ दुधमुँहे बच्चे की बलि देने से नहीं रुकेगी, उसके लिए तुम्हें पसीना बहाकर बांधों को ठीक करना होगा।'' कहानीकार अत्यंत आधुनिक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए इंसानियत के रिश्ते की गरिमा को प्रतिष्ठित करते हैं *''कुलदीप कायर हो सकता है, किंतु मैं कायर नहीं हूँ। मेरे जीते जी बच्चे और उसकी माँ का कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।''*

मानवता की अकारण हत्या करने पर तुली परंपरागत पुरातनवादी मानसिकता पर यह कहानी प्रश्न चिह्न लगाती है और नए जीवन मूल्यों और मानवीय गरिमा का सम्मान करके मानवता की प्रतिष्ठा बढ़ाती है।

23.7 प्रश्न/अभ्यास

1. नईडीह के ग्रामवासी कर्मनाशा की भयंकर बाढ़ का संबंध, विधवा फुलमत के मां बनने से जोड़कर क्यों देखते हैं। इस कथन की विवेचना कीजिए।
2. कर्मनाशा की हार में लेखक ने केवल व्यक्ति विशेष को ही चित्रित नहीं किया बल्कि समूचे अंचल की झांकी उपस्थित की है। ' इस कथन पर विस्तार से अपना मत प्रदर्शित कीजिए।
3. भैरों पांडे का चरित्र-चित्रण कीजिए।
4. शिवप्रसाद सिंह प्रस्तुत कहानी के माध्यम से मानवीय मूल्यों की स्थापना की ओर क्या संकेत करते है?

उपयोगी पुस्तकें

1. हिंदी कहानी का विकास : मधुरेश
2. कहानी : नयी कहानी : नामवर सिंह
3. चर्चित कहानियाँ : शिवप्रसाद सिंह
4. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति : देवीशंकर अवस्थी
5. आधुनिक परिवेश और नवलेखन : शिवप्रसाद सिंह

इकाई 24 भोलाराम का जीव : हरिशंकर परसाई

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य
24.1 प्रस्तावना
24.2 लेखक की सामाजिक परिवर्तन के प्रति प्रतिबद्धता
24.3 परसाई की रचना धर्मिता और व्यंग्य का स्वरूप
24.4 भ्रष्ट राजनीति का चरित्र
24.5 भाषा शैली - व्यंग्य का सटीक प्रयोग
24.6 सारांश
24.7 प्रश्न/अभ्यास
कुछ उपयोगी पुस्तकें

24.0 उद्देश्य

खंड 6 की तीसरी और इकाइयों के क्रम में 24वीं इकाई आपके सामने है। नई कहानी आंदोलन के महत्वपूर्ण कहानीकार हरिशंकर परसाई की 'भोला राम का जीव ' कहानी पर यह इकाई आधारित हैं। हरिशंकर परसाई कई दशकों तक अपनी व्यंग्यात्मक कहानियों और व्यंग्यलेखों के कारण चर्चा में रहे हैं। प्रस्तुत कहानी में सरकारी कार्यालयों में पनप रहे भ्रष्टाचार के कारण सामान्य व्यक्ति की बढ़ती हुई परेशानियों का मार्मिक चित्रण किया है। भ्रष्ट सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में मनुष्य की क्या हालत हो चुकी है। मानवीय संवेदनाएं नष्ट होकर मनुष्य अपने स्वार्थ में लिप्त हो चुका है तथा भ्रष्टाचार के क्रूर व्यवहार को चुपचाप देखने और सहने के अलावा आम इंसान के पास दूसरा कोई साधन नहीं है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- भ्रष्ट सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के चरित्र को समझ सकेंगे;
- नौकरशाही में बढ़ते भ्रष्टाचार के शिकंजे में आम आदमी की अवस्था कितनी असहाय और दयनीय हो जाती है, को रेखांकित कर सकेंगे;
- परसाई जी की रचनाओं का उद्देश्य और सामाजिक परिवर्तन में इनकी भूमिका का विवेचन कर सकेंगे;
- भ्रष्ट नौकरशाही की विसंगतियाँ, उसकी विरूपता और अमानवीय प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाल सकेंगे;
- परसाई जी द्वारा प्रयुक्त व्यंग्यात्मक शैली की विशेषताओं और इसकी सामाजिक परिवर्तन में विशिष्ट भूमिका के मूल्याकंन कर सकेंगे;
- व्यंग्य के सटिक प्रयोग द्वारा भ्रष्ट नौकरशाही की विरुपता को उजागर करने में कहानी की सफलता-असफलता पर आलोचनात्मक टिप्पणी कर सकेंगे।

24.1 प्रस्तावना

नई कहानी आंदोलन में अपनी कहानियों के माध्यम से मानवीय जीवन के विभिन्न संदर्भों, सरोकारों और सच्चाई को विस्तार देने वाले कहानीकार के रूपमें हरिशंकर परसाई का महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी कहानियों में प्रमुख रूप से पतनशील समाज के बदलते हुए जीवन मूल्यों, तथा सामाजिक विसंगतियों पर करारी चोट की गई है।

राजनीतिक भ्रष्टाचार और सामाजिक विसंगतियो को जितने स्पष्ट और इमानदार रूपसे हरिशंकर परसाई ने अपनी कहानियों में अभारा है, शायद ही उस दौर के किसी दूसरे कहानीकार ने ऐसा प्रयास किया है। व्यंग्य का जिस सफलता से उन्होंने अपनी कहानियों में प्रयोग किया है, वह सबसे अलग ही है। व्यंग्य को गंभीर चर्चा का विषय बनाने में उनकी रचनाओं का विशेष योगदान रहा है।

'एक लड़की पांच दीवाने', 'जैसे उनके दिन फिरे', 'विकलांग श्रद्धा का दौर', 'सदाचार का तावीज' 'दो नाक वाले लोग', 'काग भगौड़ा', कहानी संग्रह हरिशंकर परसाई के यथार्थवादी कहानी-लेखन का परिचय देते हैं।

वर्तमान सामाजिक जीवन की सडांध, विरुपता, विसंगति पर व्यंग्य और साथ ही जीवन के प्रति आस्था परसाई की कहानियों की विशेषता है। 'सदाचार का तावीज', 'भोलाराम का जीव,' गांधी जी का शाल', 'विकलांग राजनीति', 'चमचे', कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर भारत के सामाजिक, राजनीतिक धार्मिक, आर्थिक परिवेश के विभिन्न पक्षों पर अपनी पैनी व्यंग्यात्मक दृष्टि से मार्मिक चोट की है। भ्रष्टाचार के हर क्षेत्र, जैसे - शिक्षा संस्थाएं, सरकारी अस्पताल, कार्यालय, पुलिस, धर्मसंस्थान,राजनीति, और नेता वर्ग का परसाई ने व्यंग्यात्मक चित्रण किया है। परसाई की कहानी विशेषता के बारे में मधुरेश ने कहा है परसाई की परवर्ती कहानियाँ जो अधिकांश 'उनके दिन फिरे' और 'सदाचार का ताबीज' में संकलित हैं - अपने समय की विडंबनाओं और कुरूपताओं को बड़ी सहजता के साथ अंकित करती हैं।" हिंदी कहानी आस्मिता की तलाश (पृ. 286) हरिशंकर परसाई की कुछ महत्वपूर्ण कहानियों का यहां उल्लेख करना भी आवश्यक है। 'मौलाना का लड़का', 'राग-विराग', 'सदाचार का ताबीज', 'मुंडन', 'एक तृप्त आदमी की कहानी', 'मैं हूँ तोता प्रेम का मारा' और 'सत्य साधक मंडल' आदि कहानियाँ अपनी चिंताओं और अंतर्वस्तु के कारण परसाई की विशिष्टता की प्रतिनिधि रचनाएं मानी जा सकती है।

हरिशंकर परसाई कई दशकों तक अपनी व्यंग्यात्मक कहानियों और व्यंग-लेखों के कारण चर्चा में रहे है। व्यंग्य को गंभीर चर्चा का विषय बनाने में उनकी रचनाओं का विशेष योगदान रहा है। हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द की परम्परा को बढ़ाने वाले जो साहित्यकार स्वतंत्र भारत में साहित्य रचना कर रहे थे। ' उनमें हरि शंकर परसाई सबसे आगे थे। साहित्य के माध्यम से सामान्य जनता को सामाजिक और राजनीतिक समझदारी देने और सड़ी-गली जीवन व्यवस्था को नष्ट कर एक नई समाज रचना का संकल्प कर, हिंदी में जिन लेखकों ने साहित्य का निर्माण किया है उनमें परसाई का नाम काफी आगे की कतार में हैं। परसाई ने सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ की जितनी समझ और दृष्टि दी है उतनी उस युग में प्रेमचंद के आलावा कोई और लेखक नहीं दे सका है।

स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज में जीवन मूल्यों के विघटन के लिए जिम्मेदार स्थितियाँ, और भक्ति तथा संस्थाएँ परसाई के व्यंग्य लेखन का विषय बने है। उन्होंने अपने लिए व्यंग्य की विधा इसलिए चुनी, क्योंकि वे जानते हैं कि समसामयिक जीवन की व्याख्या, उसका विश्लेषण और उसकी भर्त्सना एवं विडम्बना के लिए व्यंग्य से बढ़कर दूसरा कोई कारगर हथियार नही हो सकता। 'भोलाराम का जीव ' एक ऐसी ही व्यंग्यात्मक कहानी है जिसमें सामाजिक - राजनीतिक स्थितियो में निहित विसंगतियों का उद्घाटन हुआ है। उन्हें व्यंग्य का विषय ही नहीं बनाया गया है बल्कि उन स्थितियों और विसंगतियों को झेल रहे आदमी की नियति को भी उद्घाटित किया गया है।

24.2 लेखक की सामाजिक परिवर्तन के प्रति प्रतिबद्धता

'भोलाराम का जीव ' कहानी में पौराणिक कथा को आधार बनाकर कहानी में व्यंग्य की निर्मित की है। धर्मराज, चित्रगुप्त और यमराज तीनों ही बड़े चिंतित होकर सोच रहे है कि पांच दिन पहले जीव त्यागने वाले भोलाराम के जीव को लेकर यमदूत इस लोक में क्यों नहीं पहुँचा। उन्हें चिंतित देखकर वहां पहुंचे नारद ने उनकी समस्या का हल ढूंढने हेतु पृथ्वीतल पर जाने की योजना बनाई। नारद पृथ्वी पर पहुंच गए। भोलाराम के जीव की तलाश में नारद अनेक स्थानों पर भटकने के बाद एक दफ्तर पहुंचते है और वहां के कर्मचारियों की रिश्वत लेकर ही काम करने की पद्धति को देखकर हैरान ही नहीं, परेशान भी हो जाते है। अपनी पेंशन पाने के लिए भोलाराम ने रिश्वत नहीं दी थी। जब तक दरख्वास्तों पर वजन नहीं रखा जाता कोई काम नहीं होता। दफ्तर के बड़े बाबू नारद से साफ-साफ कहते हैं 'आप भोलाराम के आत्मीय मालूम होते हैं। भोलाराम की दरख्वास्तें उड़ रही हैं; उस पर वजन रखिए। ' रिश्वत के रूप में नारद अपनी वीणा दे देते है। वीणा के रूप में वजन रखते ही पेंशन की फाइलों में से उन्हें भोलाराम के जीव की आवाज सुनाई देती है। नारद भोलाराम के जीव से कहते हैं, 'मै तुम्हें लेने आया हूँ। चलो, स्वर्ग में तुम्हारा इन्तजार हो रहा है ' पर भोलाराम के जीव की विवशता है कि वह पेंशन की दरख्वास्ते छोड़कर नहीं जा सकता। इसी कथा - सूत्र के व्यंग्यात्मक उपयोग द्वारा लेखक ने भ्रष्टाचार के अमानवीय रूप पर मार्मिक चोट की है। एक आम इंसान को जिंदगी में शासन तंत्र में फैले भ्रष्टाचार के कारण कितनी ही कठिनाई से गुजरना पड़ता है तथा इन सबसे लड़ने के बावजूद वह सफलता हासिल नहीं कर सकता है।

'भोलाराम का जीव' कहानी में व्यंग्य का मुख्य लक्ष्य सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था है। पर लेखक का उद्देश्य केवल इतना ही नहीं है। उसका उद्देश्य व्यंग्य को मानवीय त्रासदी और करुणा तक ले जाना है और वह यह दिखाना चाहते है कि इस व्यवस्था में मनुष्य की क्या हालत हो चुकी है। इस सच्चाई को लेखक ने इस कहानी में चित्रगुप्त जो एक काल्पनिक चरित्र है, के द्वारा भ्रष्टाचार की स्थिति को बयान किया है 'महाराज, आजकल पृथ्वी पर इस प्रकार का व्यापार बहुत चला है। लोग दोस्तों को फल भेजते हैं और उसे रास्ते में ही रेलवेवाले उड़ा लेते हैं। होजरी के पार्सलों के मोजे रेलवे के अफसर पहनते हैं। मालगाड़ी के डिब्बे-के-डिब्बे रास्ते में कट जाते हैं। एक बात और हो रही हैं। राजनीतिक दलों के नेता विरोधी नेता को उड़ाकर क़ही बन्द कर देते हैं। कहीं भोलाराम के जीव को भी किसी विरोधी ने, मरने के बाद भी खराबी करने के लिए नहीं उड़ा दिया। 'भ्रष्टाचार के इस खुलेआम व्यवहार से आम जनता जानते हुए भी चुपचाप देखने के अलावा कुछ नहीं कर सकती।' क्रूर आर्थिक तंत्र में पिसते हुए आदमी की यातनापूर्ण स्थिति की ओर भी लेखक ने संकेत किया है।

इसी तरह ठेकेदारों, इंजीनियरों, ओवरसीयरों के कारनामों को लेकर व्यंग्य किये गये हैं- 'बड़ें-बड़े इंजीनियर भी आ गये हैं, जिन्होंने ठेकेदारों से मिलकर भारत की पंचवर्षीय योजनाओं का पैसा खाया। ओवरसीयर हैं, जिन्होंने उन मजदूरों की हाजिरी भर कर पैसा हड़पा, जो कभी काम पर गये ही नहीं। ' इन सबके साथ लेखक ने क्रूर आर्थिक स्थिति से संघर्ष करते आदमी की यातनापूर्ण स्थिति की ओर भी संकेत किया है। भोलाराम को सेवानिवृत्ति के बाद पांच वर्ष तक पेंशन न मिलना और उसके लिए लगातार भेजी गई दरख्वास्तों पर कोई कारवाई न होना, सरकारी तंत्र के भ्रष्टाचार को उजागर करता है।

भोलाराम की पत्नी भ्रष्टाचार की इस नृशंस प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है पचास-साठ रूपया महीना पेंशन मिलता है, तो कुछ और काम करके गुजारा हो जाता है। पर क्या करें? पांच साल नौकरी से बैठे हो गये और अभी तक एक कौड़ी भी नहीं मिली। '

भोलाराम का जीव स्वर्ग में न पहुंचने के कारण नारद उसकी खोज करने पृथ्वी पर आये है। भोलाराम की खोज करते-करते नारद उस दफ्तर में पहुंच गए जहां भोलाराम पेंशन की प्राप्ति के लिए दरख्वास्तों पर दरख्वास्तें भेजकर थक गया। उसके जिते जी उसे पेंशन नहीं मिल पाई। लेकिन मरने के बाद उन्हीं फाइलों में उसके प्राण अटके हुए है। उसका जीव उन फाइलों को छोड़कर स्वर्ग भी नहीं जाना चाहता। नारद द्वारा भोलाराम के जीव को ढूंढ लेने पर वे साथ चलने को कहते है परंतु भोलाराम - का जीवन पेंशन की फाइलो को छोड़कर नहीं जाना चाहता। 'मुझे नहीं जाना। मैं तो पेंशन की दरख्वास्तों में अटका हूँ। यही मेरा मन लगा है। मै अपनी दरख्वास्ते छोड़कर नहीं जा सकता। ' इस तरह कहानी में व्यवस्था को व्यंग्य का लक्ष्य बनाया गया है और इसमें पड़े हुए आदमी की करुण स्थिति की ओर संकेत किया गया है।

दफ्तरों की भ्रष्टाचारी प्रवृत्तियों के कारण सामान्य जन की तकलीफें बहुत बढ़ गई हैं, और वह इस प्रकार की व्यवस्था के आगे मजबूर है। भोलाराम की नियति इतनी फाइलबद्ध हो चुकी है कि उसका जीव उन फाइलों को छोड़कर स्वर्ग भी नहीं जाना चाहता। इस तरह यह कहानी केवल व्यंग्य को साधनेवाली हीं नहीं बल्कि इसमें ऐसा त्रासद - व्यंग्य छिपा है जो सामाजिक राजनीतिक स्थिति को अनावृत्त करता हुआ मनुष्य की स्थिति को उद्घाटित करता है।

परसाई जी के लेखन में समाज में फैले भ्रष्टाचार के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया क्यों व्यक्त हुई है यह समझने के लिए उनके आलोचकों की टिप्पणी और उनके स्वयं के वक्तव्य देखें। हरिशंकर परसाई के संबंध में आलोचकों की महत्वपूर्ण टिप्पणी है आलोचक उनके व्यक्तित्व को उनकी रचना से बड़ा मानते हैं। यह व्यक्ति ऐसा क्या रहस्य छिपाये हुए है, इसे हम मध्यप्रदेश के उनके जिगरी दोस्तों के संस्मरणों में देख सकते है। लेकिन व्यक्तित्व निर्माण की वे विशेष परिस्थितियाँ जिन पर हम ढाल देना चाहते हैं उनका सबसे विश्वसनीय स्रोत स्वयं लेखक का आत्म वक्तव्य है जो सूत्र रूप में हमारे लक्ष्य की पूर्ति करता है। हमारा तत्पर्य 'गर्दिश के दिन ' से है। वे सीधे और बेलौस ढंग से बताते हैं कि वह एक ऐसे आदमी हैं, जो हँसता है, जिसमें मस्ती है, जो ऐसा तीखा है, कटु है- इसकी अपनी जिन्दगी कैसी रही है - एक निहायत कटु, निर्मम, और धोबी पछाड़ आदमी की। तीखी जिन्दगी तो होगी ही जब तीखी घटनाएँ पल्ला पकड़े रहेंगी। यानी प्लेग की वे रातें, 1936-37 की, जब सब लोग गाँव छोड़कर चले गये थे। काली रातें थीं। कुत्ते तक बस्ती छोड़ गये थे। जब खुद की आवाजें ही डरा देती थीं। जब मरणासन्न माँ के सामने सब लोग आरती गाते- ओम जय जगदीश हरे गाते-गाते पिता सिसकने लगते और माँ बिलखकर बच्चों को हृदय से चिपटा लेतीं। और सब दुःख में डूब जाते। माँ की मृत्यु के बाद पिता जिये तो लेकिन लगातार बीमार, हताश, निष्क्रिय और अपने से ही डरते हुए। पाँचों भाई बहनों में मृत्यु का अर्थ समझने की स्थिति सिर्फ परसाई की थी। धंधा सब ठप्प। जमा पूँजी खायी जाने लगी। ऐसे में ही बहिन के विवाह का मनहूस उत्सव करके एक बोझ कम किया गया। '

परसाई लिखते हैं कि 'मुझे चूहों ने ही नहीं मनुष्य नुमा बिच्छुओं और साँपों ने भी बहुत काटा है और जब भी ऐसा होता है तब किसी भी व्यक्तित्व में एक धार आ जाती है। एक तीव्र प्रतिक्रिया प्रतिपल होती रहती है। यथार्थ की टक्करों से ऐसा बोध पैदा हो

जाता है, जिसमें उस समाज को बदल डालने की विकट इच्छा का होना लाज़िमी होता है। बशर्ते सोच की दिशा सकारात्मक हो। ' परसाई के व्यक्तित्व में तभी यह परिवर्तन हुआ था कि वे कभी भी झूठ और पाखण्ड बर्दाश्त नहीं कर सके थे। परसाई बताते हैं कि उसी उम्र से दिखाऊ सहानुभूति से उन्हें बेहद नफ़रत हो गयी थी। 'अभी भी दिखाऊ सहानुभूति वाले को चाँटा मार देने की इच्छा होती है। ज़ब्त कर जाता हूँ वरना कई शुभचिन्तक पिट जाते।' बिना किसी लागलपेट के जिस मुँहफट भाषा में यह बात कही गयी है, उससे कोई भी सहज यह अंदाज़ा लगा सकता है कि झूठ और पाखण्ड के प्रति उनकी चिढ़ और नफरत कितनी प्रचंड थी।

उस दौर में परसाई ने 'तीन विद्याएँ ' भी सीखीं जिनके बिना या तो वे मर जाते या पागल हो जाते! गरीबी पर बात करना और बहस करना एक बात है और गरीबी की जिन्दगी बिताना बिल्कुल दूसरी बात। पहली विद्यार्थी दशा में बिना टिकट गाड़ी में बैठ जाना बेखटके। दूसरी विद्या सीखी-उधार माँगने की। बिल्कुल निःसंकोच! और तीसरी विद्या-बेफीक्री। जो होना होगा, होगा और क्या होगा? ठीक ही होगा। और इस तरह गर्दिश के दिनों में उस चेतना की नींव पड़ी, व्यक्तित्व का वह हिस्सा बना जो तमाम उम्र लेखक की दृष्टि के रूप में प्रतिफलित होता रहा। परस्थितियाँ या गर्दिशें हमेशा रह सकती हैं लेकिन यहाँ हमारा संकेत केवल उस दौर की गर्दिश से है जिसे बचपन से युवावस्था का दौर कहा जाता है। क्योंकि इस दौर की परिस्थितियों से लेखक की मानसिकता और व्यक्तित्व निर्माण का गहरा संबंध है। जहाँ तक दूसरे पक्ष यानी लेखक की व्यक्तिगत प्रकृति की बात है- परसाई ठहरे बहुत भावुक, संवेदनशील और बेचैन तबियत के आदमी।

इससे क्या समझा जाये?

इससे यह मतलब कि सामान्य स्वभाव का आदमी ठंडे-ठंडे जिम्मेदारियाँ भी निभा लेता रोते-रोते तालमेल भी बिठा लेता और एक व्यक्तित्वहीन नौकरी पेशा आदमी की तरह जिन्दगी साधारण सन्तोष से भी गुज़ार लेता। जाहिर है कि फिर उसका नाम हरिशंकर परसाई न होता। हम अच्छी तरह जानते हैं, जब संकट आते हैं तभी जिम्मेदारियों के हमले बढ़ते हैं और आर्थिक आधार निर्बल होते जाते हैं तो सबसे पहले आदमी को अपनी चेतना की रक्षा करने के भयंकर काम में जुटना पड़ता है। परसाई भी इन हमलों के बीच अपने व्यक्तित्व और चेतना की रक्षा में लगे रहे थे। तब सोचा भी न था कि "लेखक बनूँगा।" लेकिन अपने व्यक्तित्व की रक्षा वे तब भी करना चाहते थे।

परसाई की प्रकृति पलायनवादी नहीं रही कभी भी। सो हमलों के दौरान वे सोचते और स्वयं से कहते- "परसाई डरो मत किसी से। डरे कि मरे।" लेकिन इसका मतलब उदण्ड और घमण्डी हो जाना नहीं था। उन्होंने अपने में सिमटे रहने की जगह जन में घुल-मिल जाने का फैसला किया। उनका प्रस्थान सूत्र बना - मुक्ति अकेले में नहीं मिलती। उनका यह जो मानता था कि अपने से बाहर निकलकर सबमें मिल जाने से व्यक्तित्व और विशिष्टता की हानि नहीं होती। लाभ ही होता है। अपने से बाहर निकलो- इस महत्वपूर्ण निर्णय से उनकी रचनाओं में ऐसी तेजस्विता आई कि वे प्रगति और परिवर्तन के हथियार बन गयीं।

और जब परसाई अपने से बाहर निकले और दुःखों के सम्मोहन जाल को काटकर खड़े हुए तो उन्हें अपने व्यक्तित्व का विस्तार दिखाई दिया। जब तक यह नहीं देखा जायेगा कि दुखी और भी हैं। अन्याय पीडित और भी हैं तब तक यह विस्तार होगा ही नहीं।

यहीं-कहीं परसाई के लेखन का जन्म होता है। एक ज़बर्दस्त अचूक हथियार-व्यंग्य का प्रचंण्ड प्रहार। फैसला जो था रोना नहीं लड़ना है।

लेकिन लड़ें तो कैसे? हथियार के रूप में व्यंग्य का इस्तेमाल करने से क्या मतलब? तब उन्हें उस ओर बढ़ना पड़ा जिसे विश्वदृष्टि कहा जाता है। यानी केवल यह तै कर लेने से काम नहीं चलता कि लड़ना है। उसकी बहुत तैयारी करनी पड़ती है। परसाई ने यह तैयारी की। इतिहास, समाज, राजनीति और संस्कृति का अध्ययन शुरू किया। यानि यह मानते हुए कि अकेले वे ही सुखी हैं, जिन्हें कोई लड़ाई नहीं लड़नी। न उनके मन में सवाल उठते हैं, न कोई शंका। परसाई कहते हैं कि जब मैं जीवन, उसका विश्लेषण, अर्थ आदि की बात करता हूँ तब सवाल उठता है कि मैं किस तरह जीवन की व्याख्या करता हूँ। यह व्याख्या वे किस आधार पर करते हैं या उनकी विचारधारा क्या है? परसाई स्पष्ट कहते हैं कि उनका विश्वास मर्क्सवाद में हैं। इस बौद्धिक विश्लेषण या बौद्धिक विश्वास के साथ ही उनकी संवेदना तय हो जाती है।

24.3 परसाई की रचना धर्मिता और व्यंग्य का स्वरूप

परसाई के बारे में सबसे सरल उत्तर यही दिया जाता है- भई वो तो एक माने हुए व्यंग्यकार थे। उनके बाद अभी तक उनकी टक्कर का कोई व्यंग्यकार नहीं हुआ। परसाई से स्वयं व्यंग्य विधा समृद्ध और विकसित हुई। या कहें कि व्यंग्य महान ऊँचाइयों को उन्हीं के द्वारा स्पर्श कर सका। या कहा जाता है कि व्यंग्य और परसाई एक ही सिक्के के दो पहलू थे। ये सब कथन अलंकारिक हैं। इनसे परसाई को समझने में कोई मदद नहीं मिलती। क्योंकि महान प्रतिभाएँ जैसी कि धीरेन्द्र वर्मा ने बहुत ही अच्छे ढंग से दर्शाया है, हमेशा ही प्रतिमान-भंजक होती हैं। बने-बनाये शास्त्रों से उनका काम नहीं चलता। उनका मूल्यांकन नयी कसौटियों पर ही संभव है। परसाई से पहले व्यंग्य क्या था? जब व्यंग्य ही लोकप्रिय और स्वतंत्र विधा नहीं था तो उसका शास्त्र क्या बनता?

परसाई ने आलोचकों की यह मुसीबत भी आसान कर दी। उन्होंने स्वयं बार बार अपने संग्रहों की भूमिकाओं में व्यंग्य को खोला और उस पर अपने विचार दिये।

परसाई ने यह सही कहा कि हिन्दी में एक आम रिवाज़ है। हम शोर मचाते हैं- हमारे यहाँ इस चीज़ का अभाव है और उस चीज़ का। इस पार्श्वसंगीत के हर पुस्तक इस दावे से फेंकी जाती है कि लो अभागो, इससे अभाव की पूर्ति हो गयी। दूसरी बात वे समीक्षाशास्त्र के बारे में कहते हैं कि समीक्षा-शास्त्र में कई प्रकार की आलोचना-पद्धतियाँ लिखी हैं। लिखी होंगी। हिन्दी में सबसे प्रचलित और लोकप्रिय पद्धति है- अपनों की प्रशंसा और परायों की निन्दा। यह बड़ी स्पष्ट, सरल और उलझन विहीन पद्धति है। परसाई इन दोनों ही पद्धतियों के शिकार हुए। इन आलोचकों ने उन्हें बिल्कुल नहीं समझा।

यह सच है - ज्यादातर लोग ऐसे हैं जो व्यंग्य का महत्व ही नहीं समझते। न ही विधा के रूप में और न ही स्पिरिट के रूप में। वे व्यंग्य से हास्य को ही अलग नहीं कर पाते। जहाँ भी वे व्यंग्य देखेंगे तो हास्य ज़रूर चिपका देंगे। बिना हास्य के वे व्यंग्य की कल्पना ही नहीं कर सकते। जबकि वास्तविकता यह है कि व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार करता है। जीवन की आलोचना करता है, विसंगतियों, मिथ्याचारों और पाखण्डों का परदाफ़ाश करता है। मज़ाक एक बात है और उपहास बिल्कुल दूसरी। और उसमें भी दबे कुचले लोगों का उपहास! उसे भला व्यंग्य कैसे कहा जा सकता है!

मगर विसंगतियों के भी स्तर और प्रकार होते हैं। आदमी कुत्ते की बोली बोले-यह एक विसंगति है और वनमहोत्सव का आयोजन करने के लिए पेड़ काटकर साफ किये जायें जहाँ मंत्री महोदय गुलाब के 'वृक्ष ' की कलम रोपें- यह भी एक विसंगति है। लेकिन दोनों में भेद है यों हँसी दोनों से आती है। यानी विसंगति की क्या हैसियत है या अहमियत है, वह जीवन में किस हद तक महत्वपूर्ण है, वह कितनी व्यापक है, उसका कितना प्रभाव है- ये सब बातें विचारणीय हैं। दांत निकाल देना इतना महत्वपूर्ण नहीं है।

असल में लोग दो चीज़ें नहीं समझते-

1. जिन्दगी किस क़दर जटिल चीज़ है। उसमें खालिस हँसना या खालिस रोना जैसी चीज़ नहीं होती।
2. अच्छा व्यंग्य सहानुभूति का सबसे उत्कृष्ट रूप होता है।

परसाई इन दोनों चीज़ों को समझते हैं। वे सुधार के लिए नहीं लिखते अन्यथा वे आर्य समाजियों की तरह के हो जाते। वे मार्क्सवादी हैं, इसलिए वे सुधार के लिए नहीं बदलाव के लिए लिखते हैं। चेतना में हलचल मचाने के लिए। इसलिए वे डरते नहीं है। न समाज से। न राजनीति से। वे मानते हैं कि व्यंग्य लेखन एक गम्भीर कार्य है। वे इस विसंगति को गहरे पकड़ते हैं। देखना भी यही चाहिए कि कोई लेखक अपने युग की विसंगतियों को कितने गहरे पकड़ता है। उस विसंगति की व्यापकता क्या है और वह जीवन में कितनी अहमियत रखती है। मात्र व्यक्ति की ऊपरी विसंगति-शारीरिक व्यवहार की या लहज़े की एक चीज़ है और व्यक्ति तथा समाज के जीवन की भीतरी तहों में जाकर विसंगति खोजना, उन्हें अर्थ देना तथा उसे विरोधाभास से अलग करके जीवन से साक्षात्कार कराना दूसरी बात।

परसाई बुनियादी तौर पर शिक्षक थे वे मानते थे कि कोई भी सच्चा व्यंग्य लेखक मनुष्य को नीचा नहीं दिखाना चाहता। क्योंकि व्यंग्य तो मानव सहानुभूति से पैदा होता है। जो मनुष्य को बेहतर मनुष्य बनाना चाहता है। अर्थात् व्यंग्य उससे कहता है- तू अधिक सच्चा, न्यायी और मानवीय बन!
तो अच्छे व्यंग्य की पहचान क्या है? यदि हम यह सवाल करें, तो उत्तर होगा-

अच्छे व्यंग्य की पहचान यह है कि उसमें करुणा की अन्तर्धारा होती है। चेखव की तरह। जैसे चेख़व की एक कहानी है- एक क्लर्क की मृत्यु! इस कहानी को पढ़ते-पढ़ते हँसी आती है पर अंत में मन करुणा से भर उठता है। जिस बात पर कहानी का ताना-बाना बुना गया वह यह थी कि थियेटर में एक बाबू नाटक देख रहा है। उसके ठीक सामने उसका बॉस बैठा है। बॉस के चाँद है। बाबू को छींक आती है। बाबू को लगता है कि उसकी छींक के छींटे साहब की चाँद पर पड़ गये हैं। वह घबड़ाता है। और इण्टरवल में साहब से माफी माँगता है- साहब माफ कर दीजिए। मुझसे गल्ती हो गयी। मैंने जान-बूझ कर गुस्ताखी नहीं की। अब मज़ा यह है कि साहब की चाँद पर छींटे पड़े ही नहीं हैं। वह नहीं जानता कि बाबू माफी किस बात की माँग रहा है। वह उसे डाँटता है- क्या बक-बक लगा रखी है। भागो यहाँ से। इधर बाबू समझता है कि साहब ज्यादा नाराज है।

साहब अधिकाधिक खीझकर भागता है। बाबू उसे और भी नाराज़ समझता है। यहाँ तक तो व्यंग्य का वातावरण रहता है। पर जब साहब उसे चपरासी से बाहर निकलवा देता है तब वह सोचता है- अब नौकरी गयी। मेरी बीबी है। तीन बच्चे हैं, इनका पालन कैसे

होगा? इसी घबराहट में वह घर आता है। कुर्सी पर बैठता है और उसके प्राण निकल जाते हैं।

कैसा करुण प्रसंग है। कहानी में चेख़व ने इस कठोर नौकर शाही पर चोट की है, जिसमें साहब अंहकार के कारण बाबू से पूछता तक नहीं कि तू माफी क्यों माँग रहा है। सिर्फ इतना पूछ लेता तो बाबू की मौत नहीं होती।

24.4 भ्रष्ट राजनीति का चरित्र

किसी भी विश्लेषण के लिए जरुरी होता है कि हम सबसे पहले उस वस्तु को ऐतिहासिक विकास क्रम में रखकर देखे। तथा यह भी कि उसकी अपनी मौलिक ऊर्जा किन स्रोतों में निहित है?

प्रस्थान के लिए हम कुछ विद्वानों की मान्यताओं से सहमति जताना चाहेंगे और विश्लेषण में उनकी पुष्टि करेंगे। काफी पहले परसाई पर लिखते हुए कथा समीक्षक मधुरेश ने इस बात पर बल दिया था कि 'नयी कहानी की अन्तर्वस्तु के विस्तार की दृष्टि से अपने समकालीन कहानीकारों के बीच हरिशंकर परसाई की स्थिति कुछ ज्यादा ही महत्वपूर्ण दिखाई देती है। जबकि कहानी के कुछ धुरंधर मार्क्सवादी व्याख्याता उन्हें बड़ा कहानीकार नहीं मानते। उनका व्यक्तित्व बड़ा मानते हैं।

परसाई की यह स्थिति कुछ ज्यादा ही महत्वपूर्ण क्यों है?

यह इस वज़ह से है क्योंकि इस दौर के बहुत से कहानीकारों की तरह न तो कहीं वह स्त्री-पुरुष संबंधों के अंकन में उलझते हैं और नही शिल्प की बारीकियों को लेकर परेशान मालूम होते हैं। इससे भिन्न उनकी कहानिया पतनशील पूँजीवादी समाज में मूल्यों की जो गिरावट आ रही है, उसमें एक नैतिक और राजनीतिक हस्तक्षेप की तरह लगती हैं।

परसाई यह मानते रहे हैं कि साहित्यकार का समाज से गहरा और दोहरा संबंध है। वह समाज से अनुभव लेता है। अनुभव में भागीदार होता है। बिना सामाजिक अनुभव के कोई सच्चा साहित्य नहीं लिखा जा सकता। साहित्यकार सामाजिक अन्वेषण भी करता है। उन छिपे अँधेरे कोनों का अन्वेषण करता है जो सामान्य चेतना के दायरे में नहीं आते। वह इन सामाजिक अनुभवों का विश्लेषण करता है, कारण और अर्थ खोजता है, उन्हें संवेदना के स्तर तक ले जाता है और उन्हें रचनात्मक चेतना का अंग बनाकर रचना करता है। और फिर समाज से पायी इस वस्तु को रचनात्मक रूप देकर फिर समाज को लौटा देता है। इस प्रकार साहित्य एक सामाजिक कार्य बन जाता है।

सामाजिक कर्म के रूप में साहित्य को ग्रहण करना प्रेमचंद के 'साहित्य का उद्देश्य ' का ही विकास है। इसलिए रवींद्रनाथ त्यागी जब यह कहते हैं कि 'आज़ादी से पहले प्रेमचंद का और आज़ादी के बाद परसाई का साहित्य ही बदलते भारत की छबियों के सबसे महत्वपूर्ण आकलन हैं ' तो एक दम सही लगता है। धीरेन्द्र वर्मा उनके इस कथन को सहीसिद्ध करते हैं। देखें 'भोलाराम का जीव ' में उनकी मान्यताएँ कैसे लागू होती हैं?

"ऐसा कभी नहीं हुआ था।" इस वाक्य से कहानी शुरू होती है। कैसा नहीं हुआ था? "धर्मराज लाखों वर्षों से असंख्य आदमियों के कर्म और सिफ़ारिश के आधार पर स्वर्ग या

नरक में निवास-स्थान अॅलाट करते आ रहे थे।" तो इस बार क्या हुआ? इस बार हुआ यह कि "भोलाराम के जीव ने पाँच दिन पहले देह त्यागी और यमदूत के साथ इस लोक के लिए रवाना भी हुआ, पर यहाँ अभी तक नहीं पहुँचा।" सही है - ऐसा तो कभी नहीं हुआ था। धर्मराज ने पूछा- "और वह दूत कहाँ है?" उत्तर मिला- "महाराज वह भी लापता है।" फिर दूत अचानक बदहवास प्रकट हुआ। चित्रगुप्त चिल्ला उठे -"अरे तू कहाँ रहा इतने दिन? भोलाराम का जीव कहाँ है? "यमदूत हाथ जोड़कर बोला- "दया निधान, मैं कैसे बतलाऊँ कि क्या हो गया।... इन पाँच दिनों में मैंने सारा ब्रह्माण्ड छान डाला, पर उसका कहीं पता नहीं चला।"

इसी समय नारद जी वहाँ पहुँचे और उन्होंने समस्या पर विचार किया। उन्होंने पाया कि "मामला बड़ा दिलचस्प है।" और कहा "अच्छा मुझे उसका नाम पता तो बताओ। मैं पृथ्वी पर जाता हूँ।" पृथ्वी पर जाकर उन्होंने पता लगाया कि उसको गरीबी की बीमारी थी। पाँच साल हो गये थे पेंशन पर बैठे। पेंशन अभी तक बंधी न थी। हर दस-पन्द्रह दिन में एक दरख्वास्त देते थे पर वहाँ से या तो जवाब आता ही नहीं था और आता तो यही कि तुम्हारी पेंशन के मामले पर विचार हो रहा है। इन पाँच सालों में सब गहने बेंचकर खा लिये गये थे। चिन्ता में घुलते-घुलते और भूखे मरते-मरते उन्होंने दम तोड़ दिया। नारद को इस दुःख गाथा में कोई दिलचस्पी नहीं थी। वे तो भोलाराम का जीव ढूँढ़ रहे थे। लेकिन साधुका दिल पसीज गया सो वे पेंशन के दफ्तर जा पहुँचे। वहाँ उन्हें पता लगा कि भोलाराम ने दरख्वास्त तो दी थी लेकिन उस पर वज़न नहीं रखा था। नारद क्या रिश्वत देते? 'वज़न ' के नाम पर उनके पास उनकी वीणा ही थी।

साहब ने कहा- "यह सुन्दर वीणा है। इसका वज़न भी दरख्वास्त पर रखा जा सकता है। मेरी लड़की गाना-बजाना सीखती है। यह मैं उसे दे दूँगा।" नारदजी की वीणा ले लेने के बाद साहब ने भोलाराम की फ़ाइल मँगवाई। नारद से उन्होंने नाम पूछा। नारद ने कहा "भोलाराम!" अपना नाम सुनकर सौ-डेढ़ सौ दरख्वास्तों के बीच से आवाज़ आयी- "कौन पुकार रहा है मुझे? पोस्टमैन है? क्या पेंशन का ऑर्डर आ गया?" नारद ने कहा- "चलो, स्वर्ग में तुम्हारा इन्तजार हो रहा है।" भोलाराम ने जवाब दिया- "मुझे नहीं जाना। मैं तो पेंशन की दरख्वास्तों में भटका हूँ। यहीं मेरा मन लगा है। मैं अपनी दरख्वास्तें छोड़कर नहीं जा सकता।"

क्या इतनी सी ही है बात?

मधुरेशजी का विचार है- 'भोलाराम का जीव ' देश की समूची व्यवस्था पर एक रनिंग कमेंट्री जैसी है। भोलाराम ऐसे देश का वासी है, जहाँ दोस्तों को भेजी गयीं चीज़ें रेलवे वाले उड़ा लेते हैं और होज़री के पार्सलों के मोज़े रेलवे अफसर पहनते हैं। जहाँ राजनीतिक दलों के लोग विरोधी नेता को उड़ाकर बंद कर देते हैं ताकि विरोधी आवाज़ को दबाया जा सके। अपनी विशेष योग्यता और कार्यक्षमता के लिए जो लोग नरक में सहायता और नव निर्माण के लिए भेजे जाते हैं वे अधिकांश में इमारतों के ठेकेदार हैं जो पूरे पैसे खाते हैं। या फिर ओवर सियर हैं जो उन मज़दूरों की मज़दूरी हड़पते हैं जो कभी काम पर आते ही नहीं । लेकिन खासतौर से कहानी दफ्तरी तंत्र को उद्घाटित करती है, जहाँ रिटायर होने के पांच वर्ष बाद भी भोलाराम की पेंशन नहीं खुलती है। क्योंकि उनकी अर्ज़ियाँ उड़ती फिरती हैं। '

इसलिए कि उन पर दबाने के लिए वज़न नहीं रखा गया था। यानी हमारे देश की लालफ़ीता शाही का नंगा चित्रण यहाँ किया गया है।

आप देखेंगे कि यथार्थ का यहा कई तरह से उद्‌घाटन होता है।

24.5 भाषा शैली - व्यंग्य का सटीक प्रयोग

सबसे पहले हम वर्णन की भाषा को ही लें तो देखते हैं कि उनमें कुछ अवधारणात्मक शब्दों का प्रयोग किया गया है। तथा सारी वीभत्सता को एक-एक ऐक्शन या कार्य-चित्र में उभारा गया रहै - जैसे कि यह कहना कि धर्मराज लाखों वर्षों से असंख्य आदमियों को कर्म और सिफ़ारिश के आधार पर स्वर्ग या नरक में निवास स्थान 'अलॉट ' करते आ रहे थे। यहाँ साफ है कि धर्मराज एक दफ्तर के बड़े बाबू या ज्यादा से ज्यादा अधिकारी प्रतीत होते हैं 'सिफारिश ' और 'अलॉटमेंट ' से उनकी स्थिति नौकरशाही के यथार्थ को पूरी तरह व्यंजित करती है। एक दफ्तर का सीन देखिए और धर्मराज का लोभ देखिए- दोनों बराबर। हू-बहू जो हालत क्लर्क की होती है वही चित्रगुप्त की। हम देखते हैं कि "चित्रगुप्त बार-बार चश्मा पोंछ, बार-बार **थूक से पन्ने पलट**, रजिस्टर पर रजिस्टर देख रहे हैं।" यहाँ दिव्यता का नामोनिशान नहीं है।

यथार्थ की दूसरी प्रस्तुति यह है कि यथार्थ को सीधे-सीधे सूचनापरक सूत्रों में ढाला गया है। ये कलात्मक निष्कर्ष के रूप में हैं। जैसे चित्रगुप्त धर्मराज को सूचित करते हुए कहते हैं- "महाराज, आजकल पृथ्वी पर इस प्रकार का व्यापार बहुत चलता है। लोग दोस्तों को कुछ चीज़ भेजते हैं और उसे रास्ते में ही रेलवे वाले उड़ा लेते हैं। हौज़री के पार्सलों के मोज़े रेलवे अफ़सर पहनते हैं। मालगाड़ी के डब्बे के डब्बे रास्ते में कट जाते हैं। एक बात और हो रही है। राजनैतिक दलों के नेता विरोधी नेता को उड़ाकर बन्द कर देते हैं। कहीं भोला राम के जीव को भी तो किसी विरोधी ने मरने के बाद दुर्गति करने के लिए नहीं उड़ा दिया।"

क्या ये केवल तथ्यों का उल्लेख है? या निष्कर्षों का कलात्मक रूपान्तरण। पूरे-पूरे क्षेत्र की प्रकृति इन निष्कर्षों में समाहित है। जैसे क्लर्क का थूक से पन्ना पलटना या रेलवेवालों द्वारा माल उड़ाना।

यथार्थ की तीसरी प्रस्तुति यह है कि पृथ्वी तल की सूचनाएं ऊपर भेजने की जगह पर लोक में ही मृत्युलोक की छटा दिखलाई जायें जैसे कि नारद जी धर्मराज से पूछते हैं कि क्या नरक में निवास-स्थान की समस्या अभी हल नहीं हुई। तो धर्मराज ने कहा वह समस्या तो कभी की हल हो गयी। नरक में पिछले सालों में बड़े गुणी कारीगर आये हैं। कई इमारतों के ठेकेदार हैं, जिन्होंने पूरे पैसे लेकर रद्दी इमारतें बनायीं। बड़े-बड़े इंजीनियर भी आ गये हैं, जिन्होंने ठेकेदारों से मिलकर पंचवर्षीय योजनाओं का पैसा खाया। ओवर सियर हैं, जिन्होंने उन मज़दूरों की हाज़िरी भर कर पैसा हड़पा, जो कभी काम पर गये ही नहीं। इन्होंने बहुत जल्दी नरक में कई इमारतें तान दी हैं।"

पारस्परिक संवाद की भाषा में भी यथार्थ का ही दबाव और प्रभाव यहाँ दिखाई देता है। अर्थात् धर्मराज या चित्रगुप्त या नारद कोई तत्सम शब्दावली का प्रयोग नहीं करते। व्यंग्य में भी नहीं। लिहाजा वातावरण 'दैवी ' न बनकर लौकिक ही बना रहता है। यही कारण है कि यथार्थ की तीव्रता यहा विद्यमान है। उसकी आँच में पिघलकर जो सौंदर्य-प्रतिमा यहाँ ढल रही है, वह कैसे ढलती फिर? यमदूत को देखते ही जब चित्रगुप्त चिल्लाते हैं- "अरे तू कहाँ रहा इतने दिन?" तो यमदूत कहता है कि "आज तक मैंने धोखा नहीं खाया था, पर भोलाराम का जीव मुझे चकमा दे गया।" तब धर्मराज क्रोध से बोले-

"मूर्ख! जीवों को लाते-लाते तू बूढ़ा हो गया, फिर भी मामूली बूढ़े आदमी के जीव ने तुझे चकमा दे दिया।"

यह वही भाषा है जो किसी भी दफ्तर में सुनी जा सकती है। इस तरह हमारे अपने युग का वातावरण यहाँ साक्षात विद्यमान हो जाता है। एकदम जीवंत। ऐतिहासिक-पौराणिक दृश्य में तत्सम भाषा के प्रयोग से यह न होता। धर्मराज ऑफिस सुपरिंटेंडेंट की तरह कहते हैं, चित्र गुप्त से - "तुम्हारी भी रिटायर होने की उम्र आ गयी।" इंजीनियर, ओवरसियर, ठेकेदार, इमारत, रद्दी, पैसा खाना वगैरह शब्द हमारे यथार्थ की ही सशक्त अभिव्यक्ति करते हैं। संवादों की अत्यंत संप्रेषणीय भाषा के साथ ही स्वयं लेखक द्वारा प्रयुक्त वर्णन की भाषा का तालमेल इतना बेहतरीन है कि व्यंग्य की शक्ति उभर कर सामने आ जाती है। जैसे-

"नारद भोलाराम का मकान पहचान गये।" या यह कहना कि" वहाँ से चलकर नारद सरकारी दफ्तर पहुँचे।" या "नारद बड़े साहब के कमरे में पहुँचे।" वगैरह वाक्यों को देखा जा सकता है। परसाई की विशेषता यह है कि केवल आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक कोई एक परिस्थिति या दृश्य चुनकर वे एक ही रचना में कितने ही क्षेत्रों में व्याप्त नीचताओं पर प्रहार करते हैं। उनकी व्यंग्य की तलवार कभी म्यान में नहीं रहती। हाथ हमेशा मूठ पर ही रहता है। उनके परिवार से भेंट करने पर नारद ने यह पता लगाने की कोशिश की कि भोलाराम का जीव कहाँ लगा हो सकता है। वे पूछने लगे "माँ, यह तो बताओ कि यहाँ किसी से उनका विशेष प्रेम था, जिसमें उनका जी लगा हो।"

पत्नी बोली "लगाव तो महाराज बाल-बच्चों से ही होता है "नारद जी ने कहाँ" नहीं, परिवार के बाहर भी हो सकता है। मेरा मतलब है किसी स्त्री -" स्पष्ट है यह भाषा, यह संभावना, यह प्रश्न नारद के द्वारा पूछे जाने पर कितना व्यंजना परक हो उठता है। व्यंजना न हो तो व्यंग्य पैदा कहाँ से हो? साथ ही समाज की जो मर्मभेदिनी पकड़ परसाई दिखाते हैं, वह कितनी महत्वपूर्ण है। नारद के ऐसा कहने पर स्त्री ने गुर्राकर नारदकी ओर देखा। बोली, "हर कुछ मत बको महाराज तुम साधु हो उचक्के नहीं हो। जिन्दगी भर उन्होंने किसी दूसरी स्त्री को आंख उठाकर नहीं देखा।" नारद इस पर हँसकर बोले- "हाँ, तुम्हारा यह सोचना ठीक है। यही हर अच्छी गृहस्थी का आधार है।"

यहाँ व्यंग्य कहाँ है? यह तो एक गम्भीर कथन भी हो सकता है। और अभिधापरक वक्तव्य भी हो सकता है अगर सिर्फ "हँसकर" शब्द इसमें से निकाल दिया जाये। लेखक का कौशल यह है कि वह सिर्फ इन तीन शब्दों से ही लक्ष्य प्राप्त कर लेता है कि "नारद हँसकर बोले"। अन्यत्र भी सामाजिक यथार्थ की पकड़ का प्रमाण परसाई इसी रूप में देते हैं कि एक दो अवधारणात्मक शब्द से ही पूरे सत्य का उद्‌घाटन हो जाता है। जब स्त्री उनसे आग्रह करती है कि "महाराज, आप तो साधु हैं, सिद्ध पुरुष हैं। कुछ ऐसा नहीं कर सकते कि उनकी रुकी हुई पेंशन मिल जाये। इन बच्चों का पेट कुछ दिन भर जाये।" इस पर नारद को दया आ गयी। वे कहने लगे "साधुओं को कौन मानता है ? मेरा यहाँ कोई मठ तो है नहीं।" यानी यहाँ मृत्युलोक में काम तभी होता है जब कोई मठ हो। साधु का अर्थ यहाँ कितना बदल गया है। यहाँ आज के साधुओं में और पूराने सच्चे साधुओं में स्पष्ट विसंगति दिखाई देती है।

पूरी रचना इस कदर कसी हुई है कि व्यंग्य की मार साँस नहीं लेने देती। लेकिन कला का हाथ कहीं भी यथार्थ छोड़ता नहीं। यह महारत तभी हासिल हो सकती है जब जीवन अनुभव और अध्ययन में गहरी पैठ हो। भाषा की चुस्ती और सटीकता यहाँ देखते ही

बनती है। नारद ने पूछा- "उस पर इन्कम टैक्स तो बकाया नहीं था? हो सकता है, उन लोगों ने रोक लिया हो।" तो चित्रगुप्त ने कहा, "इन्कम होती तो टैक्स होता। भूखमरा था।" यहाँ भुखमरे से अधिक सटीक कोई अन्य शब्द हो ही नहीं सकता। लोक प्रचलित अत्यंत सशक्त व्यंजनापरक मुहावरा!

यह व्यंजना भी देशज होती है। जो शब्द आध्यात्मिक मामलों में व्यंग्य पैदा करते हैं वे सामाजिक, राजनीतिक मामलों में नहीं करते। लेकिन कुशल रचनाकार उनके अत्यंत दृष्टि संपन्न प्रयोग कर सकता है। उदाहरण के लिए मन्दिर शब्द को लें, जिसके भाव से सभी परिचित हैं। - नारद बड़े साहब के कमरे में पहूँचे। बाहर चपरासी ऊँघ रहा था। इसलिए उन्हें किसी ने छेड़ा नहीं। बिना 'विज़िटिंग कॉर्ड ' के आया देख साहब बड़े नाराज़ हुए। बोले, "इसे कोई मन्दिर-वन्दिर समझ लिया है क्या? धड़घड़ाते हुए चले आये। चिट क्यों नहीं भेजी?"

यहाँ मन्दिर और दफ्तर के अलग-अलग 'नियमों ' से व्यंग्य उत्पन्न होता है। क्योंकि यहाँ तो बिना 'वज़न ' रखे कोई दरख्वास्त आगे ही नहीं बढ़ती। यानी दुनियादारी का मामला है तथा भाव यह है कि मन्दिर वाली पूजा तो यहाँ चलती नहीं। यहाँ की अपनी पूजा है।

अब इसी मन्दिर शब्द का परसाई दूसरे अर्थ में प्रयोग करते हैं।

साहब बोले- "आप हैं वैरागी। दफ्तरों के रीति-रिवाज नहीं जानते। भई, यह भी एक मन्दिर है। यहाँ भी दान-पुण्य करना पड़ता है। यहाँ बिना चढ़ावे के कोई प्रार्थना स्वीकार नहीं की जाती।"

भाषा चाहे संवाद की हो चाहे वर्णन की चपरासी की हो या साहब की, साधु की हो या दुनियादार की, कहीं कोई 'गढ़न ' नहीं है। सहज प्रवाही। जीवंत जीवन की ऊर्जा और संप्रेषण की कला की एक रूपता यहाँ देखते ही बनती है। नकली भाषा तो नकली पात्रों को ही शोभा देती है। ज़िन्दगी से कटे हुए महज़ किताबी कीड़े उस सत्वहीन भाषा का प्रयोग करते हैं। जीवंत भाषा की साधना एकांत में नहीं की जा सकती। इसे तो जनता के बीच से ही अर्जित किया जाता है। अनुभवों से निचोड़ा जाता है और दृष्टि की सान पर चढ़ाकर पैना किया जाता है।

भाषा दृष्टि की ही अभिव्यक्ति है। एक यथार्थवादी दृष्टि ही यथार्थपरक भाषा का प्रयोग कर सकती है। जो दृष्टि जितनी ही समाज विरोधी होगी उसकी भाषा उतनी ही संकेतपरक और गुह्य होगी। क्योंकि यहाँ पतनशील समाज का पोस्टमार्टम लेखक का लक्ष्य है, लिहाज़ा सृजन शैली की दृष्टि से यथार्थवाद मात्र से काम नहीं चलता। उसकी प्रकृति को भी देखना होता है। जहां तक यथार्थ का प्रश्न है तो आलोचनात्मक यथार्थवाद ही सुसंगत सृजनशील विधि होगी। स्पष्ट है कि व्यंग्य के लिए यह विधि सर्वाधिक उपयुक्त है। क्योंकि व्यंग्य जीवन की आलोचना ही तो है। परसाई व्यंग्य के उपयोग द्वारा जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्त करते है।

24.5 सारांश

इस प्रकार हम पाते हैं कि 'भोलाराम का जीव ' प्रकारान्तर से नहीं, कलात्मक रूप से कहानी के माध्यम से समाज की तीव्र आलोचना है। स्वतंत्रता मिले हुए कोई अरसा भी

नहीं गुज़रा था कि मूल्यों में गिरावट आ गयी। ढाँचा चरमराने लगा। व्यवस्था भंग हो गयी। और भ्रष्टाचार का बोलबाला हो गया। इस सबको मदद मिली पुरानी पिछड़ी हुई पुराणपंथी चेतना से, अवैज्ञानिकता से और झूठी संस्कृति से। जिस धर्म और संस्कृति में सुन्दर व्यवस्था को स्थापित करने की, उसका विकास करने की क्षमता नहीं होती वह शोषक-उत्पीड़क वर्ग के हाथों में हथियार बन जाती है। उससे वे जनता में तरह-तरह के भ्रम फैलाते हैं। परसाई ने अपनी जनता को केंद्र में रखा, उसे नायक बनाया, उसकी दुर्दशा का खुला चित्रण किया। धारदार भाषा में अपनी अन्तर्वस्तु को प्रस्तुत किया। भ्रष्ट नौकरशाही की निर्लज्ज पराकाष्ठा को दर्शाया इस कहानी के द्वारा अपने पाठकों को एक नये सौंदर्य बोध की पहचान करायी। उनका व्यक्तित्व, लेखक स्वरूप, व्यंग्य के बारे में उनकी मान्यताएँ और पाठकों के प्रति सीधा संबोधन का संश्लिष्ट रूप है यह कहानी।

24.7 प्रश्न/अभ्यास

1. व्यंग्य की सामाजिक भूमिका निर्धारित कीजिए।
2. विसंगति, क्या व्यंग्य की आधार सामग्री है?
3. परसाई के व्यंग्य संबंधी दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।
4. 'भोलाराम का जीव ' भ्रष्ट नौकरशाही की चरम परम्परा का पर्दाफाश करती है इस कथा के माध्यम से कहानी की समीक्षा करें।
5. भाषा एवं शिल्प की दृष्टि से 'भोलाराम का जीव' की समीक्षा करें।

कुछ उपयोगी पुस्तके

1. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिकाः मैनेजर पाण्डेय : हरियाणा साहित्य अकादमी चण्डीगढ़
2. आँखन देखी : सम्पादक कमला प्रसाद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली
3. परसाई रचनावली भाग - एक एवं भाग - छह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
4. 'साम्य ' का 'परसाई विशेषांक ' : संपादक-विजयगुप्त, शीतलावार्ड, अम्बिकापुर, म.प्र.

इकाई 25 एक दिन का मेहमान : निर्मल वर्मा

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य
25.1 प्रस्तावना
25.2 स्त्री-पुरुष संबंधों में पड़ती दरार
25.3 युगीन यथार्थ और स्त्री अस्मिता बोध की अभिव्यक्ति
25.4 संवेदना व शिल्प
25.5 सारांश
25.6 प्रश्न/अभ्यास
उपयोगी पुस्तकें

25.0 उद्देश्य

इस खंड की यह चौथी इकाई है। यह इकाई बहुचर्चित कहानीकार निर्मल वर्मा की कहानी 'एक दिन का मेहमान' पर आधारित है। इस कहानी में स्त्री-पुरुष के संबंधों के अंतःसत्य को उद्घाटित किया गया है। आजादी के बाद स्त्री को मिली संवैधानिक स्वतंत्रता और समानता से निर्मित नए वातावरण में पहली बार स्त्री ने आजादी के अर्थ को जाना। शिक्षा के अवसरों से विकसित चेतना ने उसे अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति चेतनाशील बनाया। सदियों पुरानी परंपराओं को वहन करती पुरुष प्रधान मानसिकता के कारण उत्पीड़ित, शोषित, अपमानित स्त्री ने विकास और प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए जैसे ही कदम उठाए तो पारिवारिक तंत्र में हलचल मच गई। ऐसे ही नई जिंदगी को खोजने निकली स्वतंत्रता प्रेमी अस्मितादर्शी स्त्री के संघर्ष की यह कहानी है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- भारतीय समाज, धर्म तथा पुरुष प्रधान व्यवस्था द्वारा थोपे गए बंधनकारी मूल्यों के कारण समाज में दोय्यम स्थिति को झेल रही स्त्री की विवशता को रेखांकित कर सकेंगे;
- आजादी के बाद समानता के अवसरों ने स्त्री के अंदर जगाए आत्मबोध के अहसास को समझ सकेंगे;
- स्त्री के पति की तथाकथित सुरक्षा परिधि से बाहर निकलकर स्वतंत्रता के अहसास को जीते हुए आगे बढ़ने की तमन्ना ओर उसके संघर्ष की कहानी की विवेचना कर सकेंगे;
- पारिवारिक संबंध विच्छेद के बाद पुरुष की तुलना में स्त्री के ही जीवन में अकेलापन, अधूरापन क्यों भर जाता है, इसकी गहराई को जान सकेंगे;
- स्त्री एक पत्नी के अलावा मित्र बनने, इच्छाओं को अभिव्यक्त करने की भी इच्छा रखती है, पति-पत्नी संबंधों में इससे पड़ने वाली दरार के मूलभूत कारणों को जान सकेंगे।

25.1 प्रस्तावना

कहानी के माध्यम से मानव-मुक्ति का प्रश्न उठाने के साथ अपनी कहानियों को हिंदी कहानी की परिपाटी से मुक्त करने का प्रयत्न करने वाले निर्मल वर्मा का जन्म सन्

1929 में शिमला में हुआ। दिल्ली विश्वविद्यालय के सेंट स्टीफेंस कॉलेज से इतिहास में एम.ए. करने के बाद कुछ वर्ष तक उन्होंने अध्यापन कार्य किया और उसके पश्चात प्राच्य विद्या संस्थान और चेकोस्लोवाक लेखक संघ के निमंत्रण पर 1959 में चेकोस्लोवाकिया गए। कुछ वर्ष लंदन में रहे। शिमला के भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान में बतौर फेलो मिथक चेतना पर कार्य किया। निर्मल वर्मा की प्रकाशित कृतियों में प्रमुख हैं - परिन्दे, जलती झाड़ी, पिछली गर्मियों में, बीच बहस में, कव्वे और कालापानी (कहानी संग्रह(, वे दिन, लाल टीन की छत, एक चिथड़ा सुख, रात का रिपोर्टर, (उपन्यास(, चीड़ों पर चाँदनी, शब्द और स्मृति, हर बारिश में, कला का जोखिम, ढलान से उतरते हुए (निबंध तथा संस्मरण(, तीन एकांत (नाट्य कथाएँ(आदि। उनकी बहुतचर्चित कहानी 'मायादर्पण' पर फिल्म भी बन चुकी है जिसे 1973 का सर्वश्रेष्ठ फिल्म पुरस्कार भी मिला। निर्मल वर्मा एक कथाकर, निबंधकार और चिंतक के रूप में बहुश्रुत और बहुपठित हैं। वे नयी कहानी के पुरस्कर्ता के रूप में भी जाने जाते हैं।

नामवर सिंह के अनुसार 'परिन्दे' निर्मल वर्मा की पहली कृति ही नहीं है, बल्कि जिसे हम नई कहानी कहना चाहते हैं उसकी भी पहली कृति है। पढ़ने पर सहसा विश्वास नहीं होता कि ये कहानियाँ उसी भाषा की हैं जिसमें अभी तक शहर, गाँव, कस्बा और तिकोने प्रेम को ही लेकर कहानीकार जूझ रहे हैं। 'परिन्दे' से यह शिकायत दूर हो जाती है कि हिंदी कथा-साहित्य अभी पुराने सामाजिक संघर्ष के स्थूल धरातल पर ही चल रहा है। समकालीनों में निर्मल पहले कहानीकार हैं जिन्होंने इस दायरे को तोड़ा है - बल्कि छोड़ा है, और आज के मनुष्य की गहन आन्तरिक समस्या को उठाया है। इस उद्धरण में नामवर सिंह ने निर्मल वर्मा को न सिर्फ 'नयी कहानी' का पहला रचनाकार माना है बल्कि 'नयी कहानी' की विशेषता की ओर भी संकेत किया है। इसलिए पहले यह आवश्यक हो जाता है कि हम 'नयी कहानी' के बारे में कुछ जानकारी हासिल करें।

रूप और शिल्प की नवीनता आमतौर से लोगों का ध्यान सबसे पहले आकृष्ट करती है और कहानी में कविता की तरह रूप और शिल्प की नवीनता बहुत कम दिखाई देती है। इसका कारण यह है कि एक साहित्यिक विधा के रूप में कहानी स्वयं आधुनिक है। इसके विपरीत कविता में शताब्दियों पुराने रूपबंध को बदलने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि इस पुराने शिल्प में नए भावबोध को अभिव्यक्त करना संभव नहीं था। जिसे हम 'नयी कहानी' के नाम से जानते हैं उसमें रूप के स्तर पर परिवर्तन दिखाई देता है। कहानी में जो चीज कथानक के नाम से जानी जाती थी उसमें कहीं न कहीं मौलिक परिवर्तन हुआ या कहें कि कथानक की अवधारणा में बदलाव आ गया। मनोरंजक, नाटकीय या कौतूहलपूर्ण घटना संगठन को ही कथानक मान लिया जाता था पर 'नयी कहानी' के लेखकों ने जीवन के एक लघु-प्रसंग, मूड, विचार को ही कथानक माना लिया। नया कहानीकार आदि से अंत तक एक ही बात से अनेक बातें निकालता रहता है, जो कहानी का रूप ले लेती है। यह कौशल वही दिखा सकता है जिसके पास बातचीत की उत्कृष्ट कला हो और भाषा की बारीकी भी। डॉ. नामवर सिंह के अनुसार, 'नये कहानीकार ने अपने अभीष्ट विचार की अभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त प्रभावशाली तथा साभिप्राय घटना-प्रसंग का उपयोग किया, जिसकी सारी शक्ति आद्योपांत व्याप्त उद्देश्य में है। ऐसी कहानियों में अंत तक जाते-जाते संपूर्ण कथानक एक सारगर्भी विचार के रूप में झंकृत हो उठता है। यह साभिप्राय घटना-प्रसंग सर्वथा कल्पित अथवा अविश्वसनीय भी हो सकता है और अत्यन्त वास्तविक भी। घटना-प्रसंग जितना ही वास्तविक होगा, कहानी उतनी ही जोरदार होगी।' (कहानी : नयी कहानी, पृ. 15)

इसलिए कहानीकार में जागरूक तथा पैनी सामाजिक दृष्टि होनी चाहिए तभी वह पाठक को अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है। कहानी के कहानीपन की रक्षा करते हुए भी कहानी के शिल्प में नवीनता उत्पन्न की जा सकती है।

'नयी कहानी' नाम का प्रचलन जनवरी 1956 में हुआ था। वैसे इससे कुछ साल पहले से ही ऐसी कहानियाँ लिखी जानी शुरू हो गई थीं जिससे कहानियों के नए कथ्य नए तेवर और नई अभिरूचि का पता चलता है। इन कहानियों में व्यक्ति को समाज और परिवेश से अलग करने की प्रवृत्ति बढ़ी है। 'नयी कहानी' आंदोलन के दौरान 'अनुभव की प्रामाणिकता' और 'भोगे हुए यथार्थ' की अवधारणाओं का चलन ज्यादा हुआ। इस दौर में ऐसी कहानियाँ भी लिखी गई जो अनुभव को परिवेशसे ग्रहण करती थीं। कहानी की घटना निर्भरता 'नयी कहानी' में कुछ हद तक बनी रही। 'नयी कहानी' में घटनाओं को मानसिक चेतना और वातावरण में घुलाने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी। निर्मल वर्मा और कृष्ण बलदेव वैद की कहानियों में इस प्रक्रिया को साफ तौर पर देखा जा सकता है। मन के चेतन-अवचेतन स्तरों को जानने और उन्हें विश्लेषित करने की प्रवृत्ति इन कहानियों में विशेष रूप से दिखाई देती है। यह परंपरागत मूल्यों और विश्वासों के खंडित हो जाने की प्रक्रिया का परिणाम था। कहानियों में घटनाओं या स्थितियों के बजाय मनःस्थितियों, मनोदशाओं, उधेड़बुनों और तनावों का अन्वेषण अधिक होने लगा। 'नयी कहानी' आंदोलन में वस्तु को अनुभव के रूप में ग्रहण करके अंतर्वस्तु बना देने की प्रवृत्ति बढ़ी। प्रसंगों और चरित्रों के कलापूर्ण विन्यास को महत्व मिला। प्रेमचंद ने जो कार्य यथार्थ चित्रण के धरातल पर किया था, उसे नयी कहानी ने यथार्थ और कला दोनों धरातलों पर पूरा करने का प्रयत्न किया। घटनाओं व प्रसंगों की आपसी संबद्धता सिद्ध करने वाली पुरानी पद्धति छिन्न-भिन्न हो गई। कहानी के रचना विधान में एक मौलिक परिवर्तन हुआ। नयी कहानियों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे कथातत्व गायब सा हो गया है। जबकि वास्तव में ऐसा हुआ नहीं। हाँ, पहल की कहानियों में जो किस्सागोई मिलती है, 'नयी कहानी' में उसका अभाव अवश्य है। अपने विचार या भाव को सांकेतिकता प्रदान करने के लिए नए कथाकारों ने प्रायः कथानक और चरित्र के स्थूल उपादानों से ध्यान हटाकर वातावरण पर दृष्टि केंद्रित की है। पिछली पीढ़ी के कहानीकार वातावरण का चित्रण कभी कहानी को सजाने के लिए करते थे तो कभी यथार्थ को रंग देने के लिए। वातावरण के निर्माण में नए कहानीकार प्रायः बिम्ब-विधान का सहारा लेते हैं। बिम्ब वस्तुतः आधुनिक युग की कलात्मक अभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम हो गया है। नए बिम्ब वस्तुतः नए कहानीकारों के विकसित ऐन्द्रिय बोध के सूचक हैं। निर्मल वर्मा ने अपनी कहानियों में संगीत जैसी सूक्ष्म संवेदना व्यंजित की है। यह नयी कहानी की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

निर्मल वर्मा की कहानी 'एक दिन का मेहमान' की संवेदना को युगीन यथार्थ के संदर्भ में ज्यादा आसानी से समझा जा सकता है। स्त्री-पुरुष संबंधों में आई दरार हमारे समय का सत्य है। यह सत्य निर्मल वर्मा की इस कहानी में सिर चढ़कर बोलता है। ऐसा मानना ठीक नहीं होगा कि स्त्री चेतना या स्त्री स्वातंत्र्य की अवधारणा पश्चिम से आयातित या प्रभावित है। बल्कि यह तो हमारे समय और समाज की चेतना से प्रस्फुटित होने वाली परिघटनाएँ हैं। ऐसा भी नहीं है कि स्त्री स्वतंत्रता के नाम पर अमर्यादित, उच्छृंखल या समाज विरोधी कार्यों की पक्षधर है। उसे तो सिर्फ उसकी पहचान चाहिए। वह पहचान, जिसे पुरुष ने सत्ता लोभ के मद में परे धकेल दिया। आज की नारी अपनी उसी खोई हुई पहचान या कि अस्मिता की लड़ाई लड़ रही है। इस लड़ाई में स्पष्ट है कि पुरुष समाज ही उसका प्रतिद्वंद्वी है। ऐसे में दोनों के बीच तकरार, तनाव या अलगाव होना स्वाभाविक है। लेकिन आमतौर पर पुरुष इनकी जिम्मेदारी स्त्री पर डाल

कर खुद को निर्दोष साबित करने की चेष्टा करता है। जबकि स्त्री अब इस सच्चाई को समझ गई है। वह अपने ढंग से रहना चाहती है। इस तथ्य को 'एक दिन का मेहमान' कहानी में अत्यंत कलात्मकता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

25.2 स्त्री-पुरुष संबंधों में पड़ती दरार

'एक दिन का मेहमान' कहानी में एक ऐसे आदमी की जीवन-स्थितियों को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है जो अकेलेपन से ऊबकर अलग रहने वाली पत्नी और बेटी से मिलने को अत्यन्त उत्सुक दिखाई देता है। पति और पत्नी के संबंधों में न जाने कब और कैसे दरार पैदा हुई कि वे दोनों अलग-अलग रहने को मजबूर हो गए। इसके बावजूद आदमी के मन में अपनी पत्नी और बेटी से मिलने की तीव्र इच्छा बनी हुई है। यह आदमी का अकेलापन ही है जो उसे पत्नी व बेटी से मिलने के लिए मजबूर करता है। इस कहानी में आदमी की व्याकुलता साथ होने की है। घर पहुँचने पर बेटी उससे चिपक जाती है। लड़की अपने बाप के बैग में झाँक कर तमाम चीजों को कौतूहल भरी दृष्टि से देखती है जबकि उसकी माँ के लिए वे चीजें बेमानी और फालतूसी लगती हैं। वह पति से कहती है, 'मैं तुमसे कुछ नहीं चाहती.... मेरे घर तुम ये सब क्यों लाते हो, क्या फायदा है इनका(' औरत के इस अस्वीकार में 'न जाने कितनी लड़ाइयों की पीड़ा, कितने नरकों का पानी भरा था, जो बाँध टूटते ही उसके पास आने लगा।' औरत की आँखें नम हो जाती हैं। वह संबंधों की गरमी होती है जो उसकी आँखों को गीला कर देती है लेकिन अतीत की स्मृतियाँ उसे तल्ख बना देती हैं। वह आदमी के मिलने की इच्छा को झूठ बताती है और कहती है, 'मेरा नाम मत लो वह सब खत्म हो गया।' वह रोती है हालाँकि उस आदमी के अतीत और भविष्य से उसका कोई सरोकार नहीं रह गया है। दोनों में घर-परिवार को लेकर बाते भी होती हैं। बच्ची औरत और आदमी के बीच सेतु का काम करती है। अंत में आदमी उठता है लड़की को चूमता है, दरवाजे पर ठिठककर 'मैं चलता हूँ।' कहकर निकल जाता है। निर्मल वर्मा की यह कहानी आधुनिक मनुष्य के संबंधों में आए बदलाव को रेखांकित करती है। यहाँ आदतों के सहारे पुरानी पहचान फिर से सजीव हो उठती है। 'उसे मालूम था कि गर्म पानी से नहाने के बाद उसे कुछ ठंडा अच्छा लगता है। अर्से बाद भी वह उसकी आदतें नहीं भूला था बल्कि उन आदतों के सहारे ही दोनों के बीच परानी पहचान लौट आती थी।' यानी आदतों में मनुष्य के लिए एक सकारात्मक पहलू भी छिपा होता है। संबंध की समस्या होने पर नकारात्मक वस्तुओं में भी सकारात्मक पक्ष दिखाई देने लगते हैं। यही आदमी अगर अस्मिता की समस्या में सिमटा होता तो उसे पहचान नहीं, ऊबकाई आती, वितृष्णा पैदा होती। इस कहानी की स्त्री में एक एकान्त अवश्य छिपा है जो उसे आदमी के निकट आने पर भी खुलने नहीं देता। ठंडी और अन्य मनस्क लगती हुई भी वह अंदर से ऐसी नहीं है। उसके एकान्त का एक प्रमुख कारण है - 'मैंने सोचा था अब तक तुमने घर बसा लिया होगा।' 'कैसे' उसने स्त्री को देखा, 'तुम्हें यह कैसे भ्रम हुआ।' अर्थात् उस औरत के एकान्त का ठोस संबंधगत कारण है। वह परिस्थितिजन्य है। कैसी विडम्बना है कि जो संबंध के प्रति ईमानदार नहीं है वह संबंध के लिए आतुरता की सीमा तक लालायित है और ईमानदार है वह समझौते की हर संभावना के प्रति दृढ़ और कठोर है। यह एक जटिल और विडम्बनापूर्ण मानसिक स्थिति है। यह स्थिति और भी जटिल होती जाती है। औरत और आदमी के बीच एक बेटी है। वह दोनों के एकान्त को बहुत हद तक तोड़ती भी है। यह सच है कि आदमी और औरत के बीच कोई संतान हो तो प्यार न होने पर भी दोनों का एकांत अथवा अकेलापन मजबूरी में ही सही, भंग हो जाता है। आखिर संतान तो दोनों की है। उसे उपेक्षित या तिरस्कृत करने की दृढ़ता

स्त्री या पुरुष शायद ही दिखा पाते हैं। पति और पत्नी के बीच बेटी की उपस्थिति दोमुंही उपस्थिति है। पति-पत्नी किसी कारणवश अलग हो सकते हैं लेकिन बेटी तो दोनों की ओर देखती है और दोनों ही के प्यार का आलम्बन है। उसके लिए माँ-बाप की अस्मिता, स्वतंत्रता या अहम् को लेकर चल रहा टकराव, अलगाव एक त्रासदी ही है। इसे विस्तार से समझने के लिए कहानी का अंतिम हिस्सा उद्धृत करना अपेक्षित होगा

'लड़की शायद इस क्षण की ही प्रतीक्षा कर रही थी, वह टेलीफोन से उठकर आदमी के पास आई, एक बार माँ को देखा, वह टेबुल लैम्प के पीछे अंधेरे के आधे कोने में छिप गई थी और आदमी? वह गिलास के पीछे सिर्फ एक डबडबाता सा धब्बा बनकर रह गया था।'

'पापा' लड़की के हाथ में कागज का पुरज़ा था, ''यह होटल का नाम है, टैक्सी तुम्हें सिर्फ दस मिनट में पहुँचा देगी।''

उसने लड़की को अपने पास खींच लिया और कागज जेब में रख लिया। कुछ देर तक तीनों चुप बैठे रहे, जैसे बरसों पहले यात्रा पर निकलने से पहले घर के सब प्राणी एक साथ सिमटकर चुप बैठ जाते हैं।

''उसने अपना गिलास मेज पर रखा, फिर धीरे से लड़की को चूमा, अपना सूटकेस उठाया और जब लड़की ने दरवाजा खोला तो वह क्षण भर देहरी पर ठिठक गया, 'मैं चलता हूँ।' उसने कहा। पता नहीं यह बात उसने किससे कही थी, किंतु जहाँ स्त्री बैठी थी, वहाँ से कोई आवाज नहीं आई। वहाँ उतनी ही घनी चुप्पी थी, जितनी बाहर अंधेरे में, जहाँ वह जा रहा था।''

इस अंतिम हिस्से में बेटी ने खुद फैसला किया है। वह माँ-बाप के संबंध की प्रकृति को अच्छी तरह पहचानती है इसलिए वह चाहते हुए भी बाप पर रुकने के लिए दबाव नहीं डालती है। बाप को कागज का पुरजा थमाते समय वह एक बार माँ को देखती है। वह अंधेरे में छिप गई थी ताकि जाते हुए आदमी को देख न सके। ऐसा क्या मन में संचित घृणा के कारण हुआ अथवा जानबूझकर उसने जाते हुए आदमी की नजरों से खुद को बचाने के लिए किया ताकि उन दोनों के संबंधों की ठंडी पड़ चुकी राख में से कोई चिनगारी उसके अस्मिता बोध को जला न दे। बेटी बाप को देखती है जो डबडबाता-सा धब्बा रह गया था। यहाँ बेटी बहुत ही कठोर किंतु निर्णायक कदम उठाती है। उसका निर्णय आदमी और औरत के अपने-अपने एकान्तों या अहंकारों को चीरता हुआ एक निस्पन्द और जड़ बना देने वाली पीड़ा की तरह खिंचा हुआ ठहर जाता है। इस निर्णय में कितनी घनी चुप्पी और गाढ़ा अंधकार है। यह अंतिम रूप से टूट जाने की विकल्पहीन स्थिति है। यह निर्णय आगे के लिए कोई संभावना या विकल्प नहीं छोड़ता इसीलिए इसे 'त्रासदी' कहना ज्यादा उपयुक्त होगा। यह निर्णय दोनों के एकांतों का भेद खोल देता है। इस कहानी में आदमी और औरत के बीच बेटी के प्रवेश ने निर्मल वर्मा की साहित्यिक अनुभूति की प्रकृति को बदल दिया है। यह कहानी उनकी अस्मिता-प्रधान कहानियों पर एक टिप्पणी है। अपने युग के केंद्रीय प्रतीक व मिथक के खोज की प्रतिज्ञा और प्रतिबद्धता के खोखलेपन को उजागर करती इस कहानी में सभी पात्र जीवन की वास्तविकता को उजागर करते हैं किसी प्रतीक या मिथक को नहीं। इस कहानी में सिर्फ मानव-संबंधों में आया ठहराव, ठंडापन या वातावरण नहीं बल्कि ठोस ऐतिहासिक, सामाजिक एवं क्रूर मानवीय परिस्थिति है। यहाँ बेटी की उपस्थिति मात्र से ही निर्मल वर्मा कहानी का बौद्धिकीकरण नहीं कर सके हैं। इस कहानी में बेटी एक बच्चे और

साथ ही माँ-बाप के बीच के अंधेरे में एक निर्णायक हस्तक्षेप करने वाली साक्षी-भोक्ता-वयस्क दोनों की भूमिकाएँ निभाती है। माँ-बाप के बीच उभर आई तनाव की रेखाएँ कुछ धूमिल हो जाएँ अथवा वह किसी उत्तेजना के वातावरण में न बदल जाएँ, लड़की बाप को बाग दिखाने के लिए अधीर हो उठती है।

''लड़की माँ को छोड़कर उसके पास आकर बैठ गई।''

''हमारा बाग देखने चलोगे?'' उसने कहा।

''अभी?'' उसने कुछ विस्मय से लड़की को देखा। वह कुछ अधीर और उतावली-सी दिखाई दे रही थी, जैसे वह उससे कुछ कहना चाहती हो, जिसे कमरे के भीतर कहना असंभव हो।

''चलो'' आदमी ने उठते हुए कहा, ''लेकिन पहले चीजों को ऊपर ले जाओ।''

''हम इन्हें बाद में समेट लेंगे।''

''बाद में कब?'' आदमी ने कुछ सशंकित होकर पूछा।

''आप चलिए तो।'' लड़की ने लगभग घसीटते हुए कहा।

यहाँ लड़की द्वारा आदमी को घसीटकर ले जाने की विकलता में गूढ़ार्थ छिपा हुआ है। क्या आदमी को बाग दिखाना इतना जरूरी था(नहीं, पर लड़की की कोशिश यह रहती है कि माँ-बाप के रिश्तों में आया ठंडापन कहीं किसी बात पर शोला न बन जाए। वह जानती है कि इन दोनों के बीच की आत्मीयता या लगाव अपना अस्तित्व खो चुकी है। दोनों के संबंध सहज नहीं रहे। उसका स्थान अस्मिता बोध और अहं ने ले लिया है। यह अस्मिता स्वतंत्रता से जुड़ी है। इसलिए यह आधुनिक चेतना संपन्न स्त्री-पुरुष के वर्चस्व को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। पुरुष जो कि स्वभाव से स्त्री को अपने वश में रखने का आदी रहा है भला कैसे स्त्री की स्वतंत्र इयत्ता को स्वीकार कर सकता है। एक पक्ष दोस्ती का व्यवहार चाहता है, दूसरा वर्चस्व का। टकराव यहीं पैदा होता है। संबंधों में विच्छेद का यही कारण बनता है। और तब अकेलेपन की यंत्रणा को भोगना दोनों की नियति बन जाती है।

'एक दिन का मेहमान' कहानी में आदमी और औरत के बीच जो स्थिति बन गई है उसमें भी यही कारक सक्रिय रहे होंगे, ऐसा प्रतीत होता है। माँ-बाप के बीच कोई नई तकरार न हो, लड़की इससे सजग रहती है। इसीलिए वह उसे बाग दिखाने के लिए ले जाती है और रहने के लिए होटल का पता लिखकर देती है। आदमी जब तक उस घर में रहता है वह सशंकित रहती है कि कहीं कोई अनहोनी न हो जाए। किसी अनहोनी को टालने के लिए शायद वह झूठ बोलने का इरादा रखती थी लेकिन आदमी के अचानक किए गए सवाल से वह झूठ नहीं बोल पाती है।

''ममी कब लौटेंगी?''
प्रश्न इतना अचानक था कि वह झूठ नहीं बोल सकी, 'वह ऊपर अपने कमरे में हैं।'

''मैं ऊपर जाकर पूछ आता हूँ।'' उसने लड़की की तरफ देखा जैसे उससे अपनी कार्यवाही का समर्थन पाना चाहता हो। जब वह कुछ नहीं बोली, तो वह जीने की तरफ जाने लगा।

''प्लीज पापा।''

उसके पाँव ठिठक गए।

''आप फिर उनसे लड़ना चाहते हैं?'' लड़की ने कुछ गुस्से में उसे देखा।
''लड़ना!'' वह शर्म से भीगा हुआ हँसने लगा, *''मैं यहाँ दो हजार मील उनसे लड़ने आया हूँ?''*

''फिर आप मेरे पास बैठिए।'' लड़की का स्वर भरा हुआ था। वह अपनी माँ के साथ थी, लेकिन बाप के प्रति क्रूर नहीं थी। वह उसे सौम्य निगाहों से निहार रही थी
''मैं तुम्हारे पास हूँ, क्या यह काफी नहीं है?''

इस वार्तालाप से स्पष्ट हो जाता है कि लड़की विगत स्मृतियों से कितनी खिन्न है। उन स्मृतियों की काली छायाएँ उसे अपनी माँ के पक्ष में खड़ा कर देती हैं। इन स्मृतियों की छाया में ही तो उसका बचपन बीता है। माँ-बाप के संबंध ने उससे उसका सहज, निश्छल, चंचल व किलकता बचपन छीन लिया है। अभी वह मात्र तेरह बरस की है फिर भी उसे अपने बाप पर निगरानी रखनी पड़ती है, एक जिम्मेदारी के तहत चौकस रहती है, इसलिए कि कहीं बाप को मनमानी करने का मौका न मिल जाए। वह भी माँ की तरह बाप के प्रति क्रूर हो सकती है, उससे घृणा कर सकती है पर एक स्त्री के रूप में उसने अभी पुरुष मानसिकता को अनुभव नहीं किया है इसीलिए वह शायद कुछ नरम रुख अख्तियार करती है। ''आप ममी के साथ बहस क्यों करते हैं?'' अपने बाप से यह सवाल और कमोबेश आरोप लगाते हुए वह महसूस करती है कि माँ-बाप के संबंधों में आई कड़वाहट और दूरी का जिम्मेदार उसका बाप ही है। अपनी इसी अनुभूति को पूरी शक्ति और आश्वस्ति के साथ कहती है कि बहस ''आप करते हैं।'' इन मानवीय संबंधों में चाहे कितना भी तनाव अथवा घृणा की हद तक अलगाव हो जाए फिर भी कहीं कोई लगाव, एक अंतःसूत्र व्याप्त रहता है जो तनिक भी निकटता आने पर न जाने क्यों झंकृत हो उठता है। वहीं औरत जो कहती है कि, ''मैं तुम्हें देखना नहीं चाहती।'' अथवा ''तुम उससे कहीं बाहर मिल सकते हो।'' वही स्त्री उस आदमी से पूछती है, ''घर में सब लोग कैसे हैं?'' क्या इन विरोधी मनोभावों और स्थितियों को ढोंग मान लिया जाए? नहीं, ऐसा कहना तो सर्वथा उचित नहीं होगा लेकिन ऐसा लगता है कि समाज में स्त्री-पुरुष का संबंध बहुत कुछ परिस्थिति सापेक्ष होता है। कभी संबंधों में पाई जाने वाली ऊर्जा दोनों को बहुत नजदीक खींच लाती है तो कभी वही ऊर्जा समाप्त हो जाने पर दूरियाँ बढ़ जाती हैं। दो अस्मिताओं का टकराव भी परिस्थिति जन्य ही होता है न कि यह मानव स्वभाव की स्थायी वृत्ति है।

'एक दिन का मेहमान' कहानी में स्त्री भले ही पुरुष से कुशल-क्षेम पूछती है पर इसमें कहीं आत्मीयता का भाव नहीं झलकता। यह महज औपचारिकता भी हो सकती है। जैसा कि महानगरीय जीवन में आम तौर से देखा जाता है। पर इतना तो तय है कि औरत के मन में पुरुष के प्रति कहीं कोई ललक नहीं दिखाई देती। आदमी से मिलने के बाद उसके व्यवहार में जो तटस्थता दिखाई देती है उससे तो ऐसा ही प्रतीत होता है। बल्कि वह आदमी की उपस्थिति को एक यातना के रूप में सहन करती है। वह चाहती तो आदमी से नहीं भी मिल सकती थी और आदमी वहाँ शायद लाचार हो जाता लेकिन औरत ने आदमी से मिलकर मानवीय औदात्त्य का ही परिचय दिया है। निर्मल वर्मा इस कहानी में औरत के इस औदात्त्य को रेखांकित करना चाहते हैं और शायद इसीलिए आदमी के प्रति घृणा, निर्ममता का भाव होने के बावजूद स्त्री उससे मिलती है और बातें करती है। पर ध्यान रखने की बात यह है कि वह आदमी को एक हद से आगे बढ़ने की इज़ाजत नहीं देती। वह उसके द्वारा लाई वस्तुओं में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाती बल्कि

उसे आँखों से दूर ही रखना चाहती है। वह आदमी अपने करीब आने के उन तमाम उपकरणों को ध्वस्त कर देना चांहती है जिनके सहारे आदमी औरत को अपनी उदारता और प्रेम के प्रपंच में फँसा कर तिल-तिल मारता है। इस कहानी की औरत इस सत्य से रू-ब-रू है इसलिए पुरुष को कोई मौका नहीं देना चाहती। आदमी अपने अकेलेपन को तोड़ नहीं पाता। वह लौटकर औरत के पास आता है। औरत पुनः उसका सान्निध्य नहीं चाहती। वह अकेलापन झेल लेती है पर इससे ऊब कर आदमी के पास नहीं जाती। आदमी औरत की यातना का कारण रहा है और अभी है इसलिए औरत के सामने आते ही उसमें एक अपराधबोध पैदा होता है। वह संकुचित और संभ्रमित है। उसके अंतःकरण में एक डर भी व्याप्त है। वह घर जहाँ आदमी औरत से मिलने जाता है, उसका नहीं है। वह अपने अहंकार को ठेस लगते ही फुँफकार तो सकता है पर उस औरत को घर की देहरी से धकेल नहीं सकता। उसे डर है कि कहीं औरत उसे धक्के देकर बाहर न निकाल दे। कहीं उसके द्वारा लाए गए सामान को उठाकर फेंक न दे। वह स्त्री के साथ ऐसा बर्ताव कर चुका है। इसलिए उसका सशंकित रहना स्वाभाविक है। स्त्री ऐसा नहीं कर सकती क्योंकि उसकी विचार-सरणि में सहभाव की उपस्थिति है, वर्चस्व की नहीं। 'एक दिन का मेहमान' कहानी में औरत और आदमी के बीच की उपस्थिति को नज़र अंदाज़ नहीं किया जा सकता। उसकी भी अपनी व्यथा है। एक व्यवस्थित घर की फ़िज़ाँ में वह बड़ी नहीं हो रही है बल्कि उसका बचपन एक टूटे-फूटे निराश और सन्नाटा भरे माहौल में बीत रहा है। इसलिए उसके व्यक्तित्व का एक कोना अभी खाली पड़ा हुआ है। वहाँ उसके बाप की जगह सुरक्षित थी पर ऐसा हो नहीं सका। आधुनिक जीवन-स्थितियों में माँ-बाप के अलगाव और अकेलेपन की उसकी सन्तान न केवल साक्षी है बल्कि उसमें बराबर की हिस्सेदार भी है। यह कहानी इन समस्त जटिलताओं को रेखांकित करने का प्रयास करती है।

25.3 युगीन यथार्थ और स्त्री अस्मिता बोध की अभिव्यक्ति

'एक दिन का मेहमान' अकेलेपन का मर्म खोजती कहानी है। एक अकेले पुरुष के इर्द-गिर्द के अंधेरे में भटकती हुई, उस अकेलेपन के अर्थ को पकड़ने का यत्न करती हुई कहानी। बच्चे निर्मल वर्मा की कहानियों में अक्सर आते हैं। उनकी भूमिका भी विलक्षण हुआ करती है। मानो सारे मूल्य-भ्रम, सारी संदिग्धता के बीच वही एक असंदिग्ध अस्तित्व व मूल्य हो जिससे चिपटा जा सकता है। अज्ञेय और जैनेन्द्र कुमार की तरह निर्मल वर्मा भी एक साथ चिंतक व लेखक दोनों भूमिकाओं में आते हैं। उस चिंतन-साहित्य में कला और सृजनशीलता के बारे में अनेक सूत्र मिल जाते हैं जिनसे अध्ययन-विश्लेषण में बहुत सुविधा मिलती है।

'एक दिन का मेहमान' कहानी के संदर्भ में अस्मिता की खोज के प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। क्योंकि इस कहानी के मूल में अस्मिता की खोज का सवाल ही अंतर्निहित है। नयी कहानी में अकेलेपन और अजनबीपन की चर्चा बार-बार आती है, अस्मिता की खोज से इसके सूत्र गहराई से जुड़े हैं। अतः अस्मिता के सवाल पर सबसे पहले निर्मल वर्मा की स्थापना पर विचार करना प्रासंगिक होगा। उन्होंने लिखा है कि 'यदि 'अजनबीपन' सिर्फ एक व्यक्तिगत अनुभूति नहीं है और उसकी जड़ें कहीं गहरे में आधुनिक सभ्यता के उन्मूलन-बोध में निहित हैं, तो पिछले वर्षों में जिस बड़े पैमाने पर लाखों लोग अपना आवास स्थल छोड़कर कहीं पराए अजनबी देशों में शरण पाने के लिए विवश हुए हैं - कारण चाहे राजनैतिक, उत्पीड़न, धार्मिक कट्टरता (ईरान, इस्राइल) अथवा तानाशाही आतंक रहे हों, या सिर्फ नौकरी-पेशा ढूंढ़ने के लिए अपना

घर-बार छोड़कर दूसरे देशों में निर्वासित जीवन जीने के लिए बाध्य होना पड़ा हो, उसका मर्म यही है कि एक बार अपने आवास-थल से उजड़कर, अपने प्राकृतिक परिवेश से उन्मूलित होने पर मनुष्य का अपनी अस्मिता में विश्वास एकाएक डगमगा-सा गया है।'

निर्मल वर्मा अस्मिता के संकट को एक सामाजिक परिघटना के रूप में देखते हैं और अपनी जड़ों से उन्मूलित या विस्थापित होने को इसका कारण मानते हैं। विस्थापन चाहे, मातृभाषा अथवा धार्मिक विश्वासों से हो, मनुष्य में एक गहरी आत्मशून्यता और अभाव-व्यथा को जन्म दे सकता है। बिना अपने परिवेश से कटे होने पर भी व्यक्ति अपने घर या आत्मा में अजनबीपन महसूस करने लगता है और अपनी जानी पहचानी वस्तुओं से घबराकर नितांत अपरिचित स्थान में पहुँच जाना चाहता है। इस आत्म-निर्वासित अनुभूति को 'अस्मिता का संकट' कहा जाता है। निर्मल वर्मा अस्मिता के संकट का एक बड़ा कारण मनुष्य की आध्यात्मिक शून्यता मानते हैं। उनका कहना है कि, 'हर मनुष्य अपने प्रति अजनबी बना रहेगा जब तक वह स्वयं अपने को अपने आत्म, अपने सेल्फ से संयुक्त नहीं कर लेता। अपने से बिछुड़ने का आतंक आधुनिक युग में मनुष्य के 'आत्म उन्मूलन' का सबसे मर्मांतक अनुभव है।' (दूसरे शब्दों में - निर्मल वर्मा)

बीसवीं शताब्दी के साहित्य में खोए हुए आत्म की तलाश अपने चरम रूप में परिलक्षित होती है। निर्मल वर्मा आत्म-विस्मृति को सर्वाधिक भयंकर और दयनीय स्थिति मानते हैं। इस तरह वे अपनी जातीय स्मृति की पहचान पर विशेष बल देते हैं। यह स्मृति न सिर्फ हमें अपनी परंपरा से जोड़े रखती है बल्कि अस्मिता के संकट से भी हमें उबारती है। 'एक दिन का मेहमान' कहानी में पुरुष न अपनी जड़ों की ओर लौट पाता है और न ही स्त्री के परिवेश में समायोजित हो पाता है। वैसे इस कहानी में अस्मिता के संकट को लेकर उठाया गया सवाल हमारे समाज के समग्र यथार्थ को प्रतिबिंबित नहीं करता। 'असल में जो ऊब, अलगाव, तनाव और विघटन आज हमारे साहित्य में नजर आता है वह अति विकसित राष्ट्रों की समस्या है, न कि हम अर्धविकसित और अर्ध-सामंती व्यवस्था में रह रहे लोगों की।' (पंकज बिष्ट - कुल जमा पचीस)

'एक दिन का मेहमान' कहानी का परिवेश ऐसे ही विकसित राष्ट्र से संबंध रखता है। कुछ उद्धरणों के माध्यम से इसे समझने में आसानी होगी

''कुक्कू।' उसने हाथ पकड़ लिया।

''मेरा नाम मत लो --वह सब खत्म हो गया।''

''इनसे कहो अपना सामान सूटकेस में रख लें।'' स्त्री की आवाज सुनाई दी। उसे लगा, किसी ने अचानक पीछे से धक्का दिया हो। वह चमक कर पीछे मुड़ा, ''क्यों''?

उसके भीतर एक लपलपाता अंधड़ उठने लगा, ''मैं नहीं ले जाऊँगा, तुम चाहो तो इन्हें बाहर फेंक सकती हो।''

''बाहर?'' स्त्री की आवाज थरथरा रही थी, ''मैं इनके साथ तुम्हें भी बाहर फेंक सकती हूँ।'' रोने के बाद उसकी आँखें चमक रही थीं, गालों का गीलापन सूखे काँच-सा जम गया था, जो पोंछे हुए नहीं, सूखे हुए आँसुओं से उभरकर आता है।

''मुझे मालूम है'' औरत ने कुछ थके स्वर में कहा, ''क्यों उन बेचारों को तंग करते हो? तुम ढो-ढोकर इन चीजों को लाते हो और वे यहाँ बेकार पड़ी रहती हैं।''

उपर्युक्त अंशों में भारतीयता के नकार की भी व्यंजना निहित है। ध्यान देने की बात है कि भारतीय समाज के संदर्भ में स्त्री-पुरुष संबंधों के इस रूप को देख पाना आसान नहीं है।

इसलिए हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इस कहानी का परिवेश विदेशी है और उस परिवेश में निर्मल वर्मा ने एक विस्थापित पुरुष और स्थापित स्त्री के संबंधों को देखने की कोशिश की है। निर्मल वर्मा आत्म-बोध को कहानी का विषय स्वीकार करते हैं, जिसे समाज से विच्छिन्न होकर मनुष्य ने अर्जित किया है। स्वतंत्रता की आशा और अकेलेपन का अपशकुन आज की कहानी की मुख्य समस्या है। मनुष्य जिन दैनिक स्थितियों और क्रिया-व्यापारों में जीता है, वही वास्तविक है। नयी कहानी इसी वास्तविकता को सूक्ष्म स्तर पर रेखांकित करती है। 'एक दिन का मेहमान' कहानी में समाज के एक बहुत ही छोटे समुदाय की सच्चाई उभरकर सामने आई है। वह सच्चाई है स्त्री-पुरुष संबंधों में आ रहा बदलाव। इस कहानी में स्त्री-पुरुष संबंध को जिस रूप में चित्रित किया गया है वैसा पहले नहीं दिखाई देता।

आजादी के पहले स्त्री अपने पारंपरिक अवगुण्ठन में सिमटी हुई दिखाई देती है जबकि आजादी के बाद नवीन चेतना के संपर्क में आने के बाद बदले हुए परिदृश्य में स्त्री ने घर की दहलीज को लाँघने का दुस्साहस किया। इस क्रांतिकारी बदलाव ने स्त्री को उसकी अस्मिता के प्रति जागरूक बनाने में भरपूर मदद की और आज वह पुरुष के वर्चस्व को चुनौती देती हुई, अपने अधिकारों के प्रति सजग और सचेत, पुरुष के सामने तनकर खड़ा होने की स्थिति में आ चुकी है। वह पुरुष के अन्याय का प्रतिकार करती है चाहे इसका परिणाम कुछ भी हो। स्त्री-पुरुष संबंधों में अलगाव की प्रवृत्ति इसी अस्मिता बोध के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है जिसका हमारे युगीन यथार्थ से गहरा और प्रत्यक्ष संबंध है। 'एक दिन का मेहमान' में अलगाव जनित अकेलापन कहानी को एक त्रासद अंत की ओर ले जाता है। यह स्त्री के लिए गौरव की बात भी हो सकती है। यहाँ वह अपने इस प्रिय एकान्त में किसी प्रकार का विघ्न पड़ने की आशंका से घबरा जाती है। कहानी का एक टुकड़ा देखें तो बात और भी स्पष्ट हो जाती है। आदमी औरत को संबोधित करते हुए कहता है

''क्या तुम्हें इतनी देर के लिए आना भी बुरा लगता है?''

''हाँ.....'' उसका चेहरा तन गया, फिर अजीब हताशा में वह ढीली पड़ गई, ''मैं तुम्हें देखना नहीं चाहती - बस।''

''तुम चाहती क्या हो?''

''लीव मी अलोन। इससे ज्यादा मैं कुछ और नहीं चाहती।''

''मैं बच्ची से भी मिलने नहीं आ सकता?''

''इस घर में नहीं, तुम उससे कहीं बाहर मिल सकते हो?''

गौरतलब यह है कि इन दोनों की बातें औरत के अपने घर में हो रही हैं। इस वार्तालाप में औरत एक तनी हुई प्रत्यंचा की तरह पुरुष के सामने बैठी है। कोई संकोच नहीं, कोई भय या त्रास नहीं और न ही उस औरत के मन में कहीं कोई पछतावा है। वह जो कर या कह रही है अपनी इच्छा, अपनी चेतना से अनुप्राणित होकर। उसे यह डर नहीं है कि आदमी उसकी छोटी-सी गलती से क्रुद्ध होकर घर से निकाल देगा। आज वह जिस स्थिति में है उसमें उसे आदमी की प्रताड़ना से मुक्ति का सुख मिल रहा है। वह फिर उसी यंत्रणाप्रद स्थिति में लौटने की कैसे सोच सकती है। उसे तो आदमी की उपस्थिति मात्र ही यंत्रणाप्रद महसूस होती है।

''सामने बैठी स्त्री भी शायद यह जानना चाहती थी, कितना समय, कितनी घड़ियाँ, कितनी यातना अभी और उसके साथ भोगनी पड़ेगी?''

स्त्री की चिंता की रेखाएँ उसके अतीत को वर्तमान से जोड़ती हुई परिलक्षित होती हैं। यहाँ उसकी यातना और पीड़ा की कई अर्थ-छवियाँ उभरने लगती हैं। वह अपने अतीत से मुक्त हो चुकी है। वह अतीत, जिसमें उसे यातना के सिवाय शायद कुछ नहीं मिला। वह आदमी के स्वभाव, उसके व्यवहार को भूल नहीं सकी है।

''मैं सिर्फ बच्ची से नहीं .....'' वह हकलाने लगा, ''मैं तुमसे भी मिलने आया था।''

''मुझसे?'' औरत के चेहरे पर हँसी, हिकारत, हैरानी एक साथ उमड़ आई। *''तुम्हारी झूठ बोलने की आदत अभी तक नहीं गई''*

''तुमसे झूठ बोलकर अब मुझे क्या मिलेगा?''

''मालूम नहीं, तुम्हें क्या मिलेगा - मुझे जो मिला है, उसे मैं भोग रही हूँ।'' उसने गहरी ठंडी निगाह से बाहर देखा।

''मुझे अगर तुम्हारे बारे में पहले से ही कुछ मालूम होता तो मैं कुछ कर सकती थी।''

''क्या कर सकती थी?'' एक ठंडी-सी झुरझुरी ने आदमी को पकड़ लिया।

''कुछ भी। मैं तुम्हारी तरह अकेली नहीं रह सकती, लेकिन अब इस उम्र में..... अब कोई मुझे देखता भी नहीं।''

''कुक्कू.....'' उसने हाथ पकड़ लिया।

''मेरा नाम मत लो..... वह सब खत्म हो गया।''

इस वार्तालाप में स्त्री के अतीत की वे सारी स्मृतियाँ एक साथ कौंध उठती हैं जिन्होंने एक दिन उसकी जिंदगी को नरक बना डाला था। आज उस आदमी के प्रसंग में वे फिर ताजा हो गई हैं। उसके चेहरे पर हँसी, हिकारत और हैरानी के भावों का उमड़ पड़ना अकारण नहीं है। वह पुरुष की कठोरता, उसकी वक्रता को भाप चुकी है। वह जानती है कि इस समाज में एक आदर्श, पतिपरायण नारी होने के क्या मायने हैं। वह पुरुष के छल व प्रपंच को जानती है। उसे यह भी मालूम है कि अपना स्वार्थ साधने के

लिए मर्द अनेक तरह के छल-प्रपंच या ढोंग का सहारा लेता है, उसका दिल जीतने के लिए तरह-तरह के करतब दिखाता है और अंत में दूध की मक्खी की तरह निकाल कर फेंक देता है।

'एक दिन का मेहमान' कहानी आज की शहरी मध्यवर्गीय जिंदगी में पड़ रही दरारों को गहराई के साथ उद्‌घाटित करती है। एक छोटा-सा परिवार, महज पति, पत्नी और एक अदद सन्तान फिर वह कौन-सी बात है जो इन्हें अलग-अलग रहने पर मजबूर कर देती है। आज की शिक्षित नारी अपनी इच्छा-आकांक्षा, पसंद-नापसंद अथवा सत्य-असत्य का खुद निर्धारण करना चाहती है। वह अपने मन आत्मा यहाँ तक कि देह को अपने ढंग से बरतने का अधिकार चाहती है। इसमें वह पुरुष के हस्तक्षेप को अब बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। टकराव इसी बिंदु पर शुरू होता है। अतीत में किए गए समझौते पर उसे बेहद दुख होता है।

''मुझे जो मिला है, उसे मैं भोग रही हूँ।'' उसने एक गहरी, ठंडी निगाह से बाहर देखा। ''मुझे अगर तुम्हारे बारे में पहले से ही कुछ मालूम होता, तो मैं कुछ कर सकती थी।''

जीवन के इस महत्वपूर्ण निर्णय में या तो उसकी इच्छाओं का ध्यान नहीं रखा गया अथवा उसका अनुमान गलत निकला, जो भी हो औरत की पीड़ा इस कहानी में खुलकर व्यक्त हुई है। उसे दुख इस बात पर भी होता है कि आज जब वह स्वेच्छा या अपनी पसंद से किसी को अपना जीवन-साथी बनाना चाहती है तो उम्र उसकी इच्छा में बाधक बनकर खड़ी हो जाती है। सच तो यह है कि वह भी अकेलेपन से ऊब चुकी है लेकिन आज वह उम्र के जिस मुकाम पर खड़ी है वहाँ सारे विकल्प क्षीण हो चुके हैं। अब वह न तो पीछे मुड़ सकती है और न ही आगे बढ़ सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि ढलती उम्र में कोई उससे शादी के लिए तैयार नहीं होगा और वह अपने पहले जीवन साथी के साथ रह नहीं सकती। लिहाजा उसके सामने अकेलेपन की यंत्रणा भोगने के अलावा कोई दूसरा रास्ता रह भी नहीं जाता।

इस कहानी में विवाहेतर प्रेम'संबंध के बारे में एक संकेत आदमी और औरत के संबंध-विच्छेद को समझने में सहायक सूत्र का काम करेगा। कहानी का एक टुकड़ा उद्धृत किया जा सकता है।

''मैंने सोचा था, अब तक तुमने घर बसा लिया होगा।''

''कैसे?'' उसने स्त्री को देखा, 'तुम्हें यह कैसे भ्रम हुआ?''

और कुछ देर तक नीरव आँखों से उसे देखती रही, 'क्यों उस लड़की का क्या हुआ? वह तुम्हारे साथ नहीं रहती?'' स्त्री के स्वर में कुछ उत्तेजना नहीं थी, न क्लेश की कोई छाया थी जैसे दो व्यक्ति मुद्दत बाद किसी ऐसी घटना की चर्चा कर रहे हों जिसने एक झटके से दोनों को अलग छोरों पर फेंक दिया था।

क्या यह 'लड़की' इन दोनों के अलगाव का कारण नहीं हो सकती(शहरी मध्यवर्ग में विवाहेतर प्रेम-प्रसंगों या कि यौन-संबंधों की प्रवृत्ति बहुत तेजी से उभरी है। तब ऐसे में यह असंभव नहीं दिखता कि 'एक दिन का मेहमान' कहानी में औरत और मर्द के रिश्ते में आया बदलाव इस नई प्रवृत्ति के प्रभाव के कारण हुआ हो। ऐसे मामलों में सचेतन नारी कभी समझौता नहीं करती।

अपने समय के यथार्थ को किसी प्रभावशाली बिम्ब में अंकित कर देना कला की बहुत बड़ी ताकत है। पर निर्मल की कहानियों में ऐसे बिम्बों का प्रायः अभाव दिखाई देता है जिसमें युग के किसी महत्वपूर्ण सत्य को अंकित किया गया हो। फिर भी उनके यहाँ सामान्यतः बिम्बों की भरमार दिखाई देती है। उनकी भाषा में मूर्तन - अमूर्तन, दोनों प्रक्रियाएँ परस्पर गुँथी हुई प्रतीत होती हैं। इसलिए बिम्ब सुसंगत और प्रभावशाली नहीं बन पाते हैं।

इस तरह कल्पना के धनी होने के बावजूद निर्मल के यहाँ ऐसे कितने वाक्य मिल जाते हैं जिनसे कोई अर्थ नहीं निकलता।

''पता नहीं वह लकीर कहाँ बीच में सूख गई? कौन-सी जगह, किस खास मोड़ पर वह चीज हाथ से छूट गई, जिसे वह कभी दोबारा नहीं पकड़ सका।''(एक दिन का मेहमान)

इस उदाहरण में लकीर सूखने की बात कही गई है। लकीर अगर गीली हो या सूखी, वह हाथ में कैसे पकड़ी जा सकती है(इस तरह की असंगति से अमूर्तता उत्पन्न होती है और अर्थ बाधित होती है। निर्मल की गत्यात्मक भाषा में उपमा एक शक्तिशाली तत्व है। इन उपमानों से उनकी सूक्ष्म निरीक्षणवृत्ति और प्रखर कल्पना-शक्ति का पता चलता है। उदाहरण के तौर पर

''रोने के बाद उसकी आँखें चमक रही थी, गालों का गीलापन सूखें काँच-सा जम गया था, जो पोंछे हुए नहीं, सूखे हुए आँसुओं से उभरकर आता है।''
(एक दिन का मेहमान)

इस कहानी में निर्मल वर्मा ने उपमा के लिए जिन मुहावरों का प्रयोग किया है वे बनावटी नहीं, बल्कि यथार्थ से उपजे हुए हैं। इनके द्वारा निर्मल वर्मा यथार्थ को अपने ढंग से देखते व ग्रहण करते हैं। लेकिन निर्मल में सर्वत्र ऐसा संयोग नहीं मिलता है। ज्यादातर मामलों में वे उपमाओं को, अपनी कल्पना का वैभव दिखाने के लिए हवा में उछाल देते हैं, ऐसे में प्रायः वे वाक्जाल ही साबित होती हैं।

''वह उस आदमी की तरह था जो आँखों पर पट्टी बाँधकर हवा में तनी हुई रस्सी पर चलता है, स्त्री कहीं बहुत नीचे थी, एक सपने में, जिसे वह बहुत पहले कभी जानता था, किंतु अब उसे याद नहीं आ रहा था कि वह उसके सामने क्यों बैठा था?''
(एक दिन का मेहमान)

निर्मल के यहाँ रहस्यात्मकता का कलात्मक प्रयोग देखने को मिलता है। वे मामूली सूचनाएँ देकर वातावरण को रहस्यमय बना देते हैं। मसलन पात्रों का पूरा परिचय नहीं दिया जाता और इससे उनकी सही स्थिति स्पष्ट नहीं हो पाती।

किसी वार्तालाप या घटना-प्रसंग की शुरूआत ही निर्मल इस ढंग से करते हैं कि उसका सिरा पकड़ में नहीं आता। वह खुलता है काफी देर से। तब तक पाठक रहस्य में झूलता रहता है। 'एक दिन का मेहमान' कहानी से एक उदाहरण लेते हैं

''वह भागते हुए सीढ़ियाँ उतरकर नीचे आई थी, और उससे चिपट गई थी। इससे पहले वह पूछता, क्या तुम भीतर थी? और वह पूछती, तुम बाहर खड़े थे? उसने अपने धूल भरे लसतम-पस्तम हाथों से उसके दुबले कंधों को पकड़ लिया और लड़की का

सिर नीचे झुक आया और उसने अपना मुँह उसके बालों पर रख दिया।''

इस कहानी में जिस लड़की का जिक्र किया गया है वह कौन है? घर आए जिस मेहमान से वह लिपट जाती है उससे उसके क्या संबंध है? इसे कुछ देर तक पाठक की कल्पना पर छोड़ दिया गया है। हम पात्रों के नाम, स्थिति व संबंधों को जाने बिना उनकी बातें सुनते रहते हैं और उनकी हरकतों से उसका अर्थ टटोलते रहते हैं। 'एक दिन का मेहमान' कहानी में जो उद्धरण ऊपर दिया गया है उससे यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं होता कि वह लड़की उस आगन्तुक की बेटी ही होगी। उनके व्यवहार से उनके प्रेमी-प्रेमिका या पति-पत्नी होने का भी अनुमान लगाया जा सकता है।

निर्मल जहाँ कला की विचित्रता की बाते करते हैं वहीं उनकी कहानियों में हम कला की विचित्रता को नष्ट होते हुए भी देखते हैं। संवेदना कुछ खास विषयों को ही छूती है, निरीक्षण-वृत्ति कुछ खास चीजों में ही रमने लगती है, तब कला की विचित्रता रूढ़ियों में बदलती दिखाई देती है। निर्मल में जीवन-संसार का वैविध्य नहीं है। उनके यहाँ कुछ खास कला तत्वों के बार-बार दोहराए जाने के कारण भाषा और शिल्प रूढ़ से हो गए हैं। कथ्य कला के आवरण के नीचे दब जाता है।

निर्मल वर्मा की कहानियों का अनुभव-क्षेत्र सीमित है। बेरोजगारी की मनःस्थिति, प्रेम या विवाह के प्रसंग में जीवन की अवरुद्ध स्थितियाँ, पुरानी स्मृतियाँ या संबंधों से जुड़ने या छूटने की स्थितियाँ और अलगाव या अकेलेपन तथा अस्मिता के सवाल से जुड़ी गिनी-चुनी स्थितियाँ ही उनके यहाँ मिलती हैं। इस प्रकार के व्यापक सामाजिक अनुभव से कटे हुए, अपने को सायास अलग करते हुए प्रतीत होते हैं। हिंदी कथा-साहित्य में इतनी आत्म-केंद्रिता अन्यत्र नहीं मिलेगी।

'एक दिन का मेहमान' अस्मिता के सवाल को लेकर लिखी गई कहानी है। अकेलेपन की स्थिति कितनी भी पीड़ादायक क्यों न हो, अपनी अस्मिता को पाने के लिए अपरिहार्य है। यह निर्मल वर्मा की अपनी जीवन-दृष्टि का एक उदाहरण है। अस्मिता को उपलब्ध करने का मतलब उसका मानसिक अनुभव करते रहना नहीं होता बल्कि उसे समाज के बीच प्रतिष्ठित करना भी होता है। अस्मिता की रक्षा संघर्ष करने से होती है। अकेलेपन में अस्मिता की उपलब्धि एक छलावा है, एक विडम्बनात्मक दयनीय स्थिति। अतः निर्मल का युगीन यथार्थ वस्तुतः उनका निजी यथार्थ बन जाता है, जो उनकी नितांत व्यक्तिबद्धता का परिचायक है। उन्हें अपनी विशिष्टता और अद्वितीयता ही अधिक प्रिय है, जिसे उनकी अनेक कहानियों में देखा जा सकता है। इसे एक असामाजिक प्रवृत्ति भी कह सकते हैं।'एक दिन का मेहमान' कहानी के संदर्भ में युग-सत्य की पड़ताल करें तो हम पाते हैं कि यह कहानी हमारे सामाजिक यथार्थ का पूर्ण निरुपण नहीं करती और सही मायने में भारतीय परिवेश को उभारने वाली कहानी नहीं है। वैसे भी निर्मल वर्मा आज के व्यक्ति की घुटन, परायेपन और ट्रेजेडी को अत्याधुनिक परिवेश में (कहीं-कहीं पाश्चात्य परिवेश में) चित्रित करने में अधिक रूचि लेते हैं। यही उनका युग-सत्य है।

25.4 संवेदना व शिल्प

किसी भी समाज के संकट उसके सबसे संवेदनशील, सबसे जागरूक सदस्यों में प्रकट होते हैं। ये जागरूक लोग कलाकार ही होते हैं। पर इसके साथ यह कहना भी उतना ही

जरूरी है कि उस संकट या रोग के लक्षण ही नहीं, निदान और प्रतिकार के संकेत भी समाज के इन्हीं रचनाधर्मी आत्म केंद्रों के जरिए प्रकट होते हैं। लेखक की चेतना एक गहरे और विशिष्ट अर्थ में या प्रतिनिधित्व करने वाली चेतना होती है। व्यक्ति के रूप में, वह चाहे जितने ऊँचे नैतिक मानदंड़ों का कायल हो, एक रचनाकार की हैसियत से उसकी चेतना और कल्पना अपने युग और परिवेश में व्याप्त संक्रामकों से अछूती नहीं रह सकती। यह परकाया-प्रवेश उसका स्वधर्म है और यही उसके होने को मूल्यवान बनाता है। जीवन के सत्यासत्य में उसकी संवेदनशील पैठ और प्रत्यक्ष भागीदारी उसके द्वारा उद्‌घाटित सत्य को खरा बनाती है। हिंदी में निर्मल वर्मा ऐसे ही कहानीकार हैं जो मनुष्य के अंतः प्रदेश में उतरकर उसके सत्य का साक्षात्कार और सूक्ष्म उद्‌घाटन करते हैं। निर्मल वर्मा के भाव-बोध में एक खुलापन है, न केवल रिश्तों की लहू-लुहान पीड़ा के प्रति, बल्कि मनुष्य के उस अनुभव और वृत्त् के प्रति भी, जो उसे जिंदगी के अर्थ की खोज में प्रवृत्त करती है। निर्मल वर्मा की कहानियाँ किन्हीं घटनाओं या चरित्रों को केंद्र में रखकर नहीं रची गई हैं। ये चरित्र या घटनाएँ एक जटिल पारदर्शी बिम्ब की तरह आते हैं। उनकी कहानी के केंद्र में एक संवेदना निहित है जो सभी पात्रों, घटनाओं और वातावरण को घुला-मिलाकर एक बिम्ब का रूप देती है। 'एक दिन का मेहमान' की कुछ पंक्तियाँ लें

''औरत की आवाज ऊपर उठी और तब उसे पता चला कि यह उस स्त्री की आवाज है जो उसकी पत्नी थी, वह उसे बरसों बाद भी सैकड़ों आवाजों की भीड़ में पहचान सकता था..... ऊँची पिच पर हल्के से काँपती हुई, हमेशा से सुप्त, आहत, परेशान, उसकी देह की एकमात्र चीज, जो देह से परे आदमी की आत्मा पर खून की खरोंच खींच जाती थी..... वह जैसे उठा था, वैसे ही बैठ गया।''

निर्मल वर्मा की कहानी इसी अहसास और उससे मुक्ति की कोशिश की कहानी है। जिसे अकेलेपन से मुक्ति की छटपटाहट भी कहा जा सकता है। अकेलापन, वस्तुतः अधूरेपन की तीव्र अनुभूति तो है ही पर साथ ही अपने प्रयास की त्रासद परिणति की तीखी अनुभूति भी है। यह अकेलापन या अधूरापन मानवीय नियति में स्थित है। जैसा कि निर्मल वर्मा 'कला का जोखिम' में करते है

''मनुष्य का यह लावारिस अलगाव और अधूरापन कोई आधुनिक, पश्चिमी बोध की देन नहीं है - वह मनुष्य के मनुष्यत्व के बीच एक कीड़े की तरह विद्यमान है, धरती पर महज उसके होने के बोध में निहित है। उसकी समूची मिथक संरचना, धर्म-विधान, ईश्वर-कल्पना और हमारे समय में संपूर्ण क्रांति का स्वप्न इसी अभिशप्त अनाथावस्था से छुटकारा पाने का गौरवपूर्ण, ट्रैजिक और बीहड़ प्रयास है। कला यदि इनसे अलग है तो इसलिए नहीं कि वह इस अधूरेपन के पाप से मुक्ति का स्वप्न नहीं देखती - यह स्वप्न और आकांक्षा ही तो उसकी सतत् प्रासंगिकता के केंद्र में है - फर्क केवल इतना है कि यह स्वप्न कहीं बाहर और परे न होकर स्वयं उसकी सृष्टि, उसके फार्म, उसकी संरचना में सन्निहित है।'' (पृ. 41)

कोई संबंध पूर्ण नहीं है क्योंकि मनुष्य अपने आप में पूरा नहीं है। अकेलापन ही अधूरेपन का अहसास है। निर्मल वर्मा की कहानियों में यदि चरित्र अलग से याद नहीं आते तो इसका एक कारण यह भी है कि ये सभी चरित्र अपनी नियति में एक जैसे हैं - एक जैसे अधूरे और साथ होते हुए भी अकेले।

भाषा की कई प्रकार की भंगिमाओं को एक साथ साधने का यह अन्दाज केवल शैलीगत विशेषता नहीं है - यह कहीं बड़ी चीज है। यदि यह केवल शैलीगत विशेषता बनकर रह जाती तो एक रूढ़ि बन जाती। लेकिन निर्मल वर्मा के यहाँ इस तरह की रूढ़ियाँ नहीं हैं। यह वह संवेदना है जो केवल भाषा की अनेक भंगिमाओं को एक साथ साधने की साधना के माध्यम से यथार्थ के कई स्तरों व रूपों को एक साथ ग्रहण करना चाहती है। इसीलिए यह भाषा एक साथ ही दृश्यात्मक भी है, नाट्यात्मक और अनुचिन्तात्मक भी। समय उनके यहाँ पात्रों के आपसी रिश्तों और पूरी कहानी की लय में व्यक्त होता है। मुक्तिबोध ने आत्मपरक कविता के बारे में टिप्पणी करते हुए लिखा था कि, *''आधुनिक युग के आत्मपरक काव्य की एक विशेषता यह रही है कि कभी तो उसके संदर्भ स्पष्टतः संकेतित होते हैं और कभी वे काव्य में भाव या भावना के भीतर से दीप्त और ज्योतित हो उंठते हैं। अतएव काव्य-भावना के आंतरिक वास्तविक संदर्भों को भूलने से या उनको गलत ढंग से लेने से काम नहीं चलेगा।''* मुक्तिबोध का यह कथन निर्मल वर्मा पर भी काफी हद तक लागू होता है। समय के संदर्भ स्थूल रूप में उनके यहाँ भले ही कम आते हों, लेकिन पात्रों के बीच का तनाव जहाँ एक आधुनिक मन का तनाव है, वहीं कहानियों की लय भी इस तनाव को पूरी तरह सम्प्रेषित करती है। 'एक दिन का मेहमान' का एक अंश उद्घृत करना प्रासंगिक होगा

''लड़की ने ऊपर कमरे की तरफ देखा, ऊपर सन्नाटा था, जैसे घर की एक देह हो, दो में बंटी हुई, जिसका एक हिस्सा सुन्न और निस्पन्द पड़ा हो, दूसरे में वे दोनों बैठे थे और तब उसे भ्रम हुआ कि लड़की कोई कठपुतली का नाटक कर रही है। ऊपर के धागे से बँधी हुई, जैसे वह खिंचता है, वैसे वह हिलती है, लेकिन वह न धागे को देख सकता है, न उसे, जो उसे हिलाता है।''

कहानी में निहित यह लय आधुनिक मन के तनावों की एक लयात्मक व्यंजना करती है और विभिन्न शब्दों और वाक्यों के बीच का तनाव भाषा-विन्यास को खरा बनाता है। निर्मल की कहानियों की संरचना की तुलना अक्सर संगीत से की जाती रही है। ऐसा उनकी कहानियों में व्याप्त लयात्मकता के कारण ही हुआ है। निर्मल वर्मा की कहानियाँ हिंदी कहानी में प्रसाद, प्रेमचंद, जैनेन्द्र, अज्ञेय से अलग एक नयी परंपरा की शुरूआत करती हैं क्योंकि इन लेखकों की कहानियाँ या तो चरित्र-प्रधान हैं या घटना-प्रधान या परिस्थिति-प्रधान। निर्मल की कहानियाँ इस अर्थ में अलग हैं कि वे चरित्र, घटना या परिस्थिति को रचती हुई भी शब्द की बहुआयामी संभावनाओं का कविता की तरह सर्जनात्मक रूपायन हो जाती है पर कविता नहीं बनती। उनकी कहानियों में बच्चे अपनी महत्वपूर्ण भूमिका के साथ उपस्थित होते हैं। 'एक दिन का मेहमान' कहानी में लड़की की भूमिका उसके बाप के आंने के बाद कितनी महत्वपूर्ण हो जाती है। आदमी और औरत दोनों ही अपने-अपने अकेलेपन और अधूरेपन से त्रस्त हैं, दोनों ही एक तरह की आशंका और तनाव से ग्रस्त हैं पर लड़की इन आशंकाओं से भयाक्रांत नहीं होती। वह दोनों के तनावों को कुछ हद तक ढीला करने के लिए प्रयत्नशील है ताकि स्थिति में कोई विस्फोट न हो जाए। वह कहानी के बीच-बीच में थोड़ी-सी झलक दिखाकर गायब हो जाती है। ऐसा लगता है कि निर्मल वर्मा बच्चों की इस अलग दुनिया को दुनिया के स्वास्थ्य के लिए ही नहीं बल्कि उसे टिकाऊ बनाने के लिए भी आवश्यक मानते हैं। निर्मल की कहानियों में जो वयस्क आते हैं वे डरे हुए बच्चों जैसे लगते हैं जबकि बच्चे इन डरे हुए, अनिश्चयग्रस्त वयस्कों के त्राता के रूप में अवतरित होते हैं। 'एक दिन का मेहमान' में औरत और आदमी भी दोनों ही डरे और सहमे हुए दिखाई पड़ते हैं जबकि लड़की अपने बाप को बहलाने के अलावा अपनी स्पष्टोक्ति से उसे विचलित भी कर देती है।

''प्लीज पापा।''

उसके पाँव ठिठक गए।

''आप फिर उनसे लड़ना चाहते हैं?'' लड़की ने कुछ गुस्से में उसे देखा।

या जब लड़की बाप से कहती हैं,''आप ममी के साथ बहस क्यों करते हैं?'' तो भी वह भयभीत हो जाता है। आदमी का 'पाँव ठिठकना' या 'भयभीत हो जाना' सत्य का उद्‌घाटन करने का निर्मल वर्मा का अपना खास तरीका है। यहाँ निर्मल पूरी तरह से औरत और उसकी त्रासदी के साथ सहानुभूति प्रकट करते दिखाई देते हैं। यह एक ऐसा सत्य है जिसे एक अवयस्क लड़की भी अच्छी तरह समझती है।

नई कहानी की भाषा कथ्य की आंतरिक अभिव्यक्ति का सहज एवं पुष्ट माध्यम है। निर्मल वर्मा अपनी भाषिक संरचना की बदौलत अपने कथ्य को अच्छी तरह संप्रेषित करने वाले सफल कहानीकार हैं। उनकी कहानियों की विशेषताएँ बताते हुए डॉ. वीर भारत तलवार ने लिखा है,'निर्मल वर्मा की कहानियों का अनूठापन मुख्यतः तीन बातों में है - काव्यात्मक भाषा, चमत्कारपूर्ण कल्पना और रहस्यात्मकता। यही तीन मुख्य विशेषताएँ हैं जो उन्हें 'नयी कहानी' के दूसरे सभी कहानीकारों से और शायद हिंदी की पूरी कथा-परंपरा से अलग करती हैं। कुछ दूसरी विशेषताएँ भी हैं जैसे बारीक अनुभूतिशीलता और बिम्बों में उसकी अभिव्यक्ति, अत्यधिक स्मृतिशीलता, छोटी-छोटी तफसीलों की जीवंतता, सूक्ष्म निरीक्षण वृत्ति और खास किस्म का वातावरण इत्यादि।' (आलोचना : जुलाई-सितम्बर 1989)

'एक दिन का मेहमान' में मध्यवर्गीय महानगरीय बोध को दिखाने के लिए निर्मल वर्मा शराब का इस्तेमाल करते हैं। अलग-अलग रहने वाले आदमी और औरत जिस तटस्थता से आत्मीय संबंधों की बात कर जाते हैं, उसकी निस्संगता को गहरा रंग देने के लिए इस तरह का वातावरण बनाना निर्मल की कलात्मकता का प्रमाण है। आदमी के बैग में झाँकती शराब शुरू में ही आदमी की सामाजिक हैसियत को बता देती है। अकेलापन उनके यहाँ आधुनिक जीवन-स्थितियों को और भी घनीभूत बना देता है।

निर्मल मूलतः मध्यवर्गीय शहरी संवेदना के लेखक हैं। उनका अनुभव संसार बहुत छोटा है। यही कारण है कि एक ही तरह के पात्र व स्थितियाँ उनके यहाँ बार-बार दस्तक देती हैं।

25.5 सारांश

निर्मल वर्मा 'नयी कहानी' आंदोलन के दौर के कथाकार हैं। उनकी कहानी 'परिन्दे' को नयी कहानी की पहली रचना माना गया है। नयी कहानी ने पुराने रचना विधान को तोड़कर अपने लिए नई ज़मीन तैयार की क्योंकि कहानी का पुराना रचना विधान, जिसमें किस्सागोई और घटनात्मकता की प्रमुखता होती थी, नए भाव सत्य को अभिव्यक्त करने में असमर्थ साबित हो रहा था। ऐसे में निर्मल वर्मा जैसे रचनाकारों में युगीन भाव-बोध को अभिव्यक्ति देने के लिए नए शिल्प का गठन किया। 'एक दिन का मेहमान' कहानी निर्मल वर्मा के कथ्य और शिल्प का उत्तम नमूना है। कहानी में न तो किस्सागोई का भाव है और न ही कोई कौतूहल या घटनात्मकता। यहाँ तो सिर्फ

वातावरण और संवादों के माध्यम से कथ्य को सम्प्रेषित करने का प्रयास किया गया है। स्त्री-पुरुष के संबंधों में आए बदलाव और उसकी प्रकृति में चित्रित करना ही कहानी का उद्देश्य है। यहाँ न पात्रों की भरमार है और न समय की अतिव्याप्ति। कुछ घंटों में ही कहानी का उद्देश्य पूरा हो जाता है और उसका मर्म भी उद्‌घाटित हो जाता है। इस कहानी में महानगरीय जीवन की विसंगतियाँ और मध्यवर्गीय समाज में अहं के टकराव को रेखांकित किया गया है। यही कहानी की मूल संवेदना और कथ्य का अभिप्रेत भी है। इस कहानी में निर्मल वर्मा की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति एवं उनकी कहानी कला का परिचय प्राप्त होता है। निर्मल वर्मा आधुनिक मनुष्य की गहन आंतरिक समस्या को रेखांकित करने में विशेष रूचि लेते हैं। 'एक दिन का मेहमान' कहानी में मनुष्य जीवन की व्यर्थता, निरुद्देश्यता और आस्था - इन अंतर्विरोधों को भी लक्षित किया जा सकता हैं। हम क्या करें? कहाँ जाए? की अनुगूँज निर्मल की इस कहानी में भी सुनाई पड़ती है।

'एक दिन का मेहमान' निर्मल वर्मा की एक महत्वपूर्ण कहानी है। पति-पत्नी के संबंध लगभग टूट चुके हैं। पत्नी और बेटी विदेश में रहते हैं। पति उनसे संबंध जोड़ने का इच्छुक है। वह उनसे मिलने हिंदुस्तान से आता है। पत्नी उससे दृढ़ता का व्यवहार करती है और एक रात भी रुकने की इजाजत नहीं देती। यहाँ अकेलापन घटनाओं की परिणति के रूप में सामने आता है। माँ और पिता के साथ बेटी का संबंध सबसे ज्यादा आकृष्ट करता है। लड़की का माँ और पिता के साथ अपना संतुलित संबंध बनाने की कोशिश और इस प्रयास में उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व का उभरता नया रूप बहुत प्रभावित करता है। 'पिता को घर से बाहर कहीं ठहरने के लिए राजी कराने के बावजूद पिता के प्रति उसकी सद्‌भावना और मैत्रीभाव का जो स्वरूप झलकता है, वह इस वर्ग की परिस्थितियों के बीच अलग हो गए माँ-बाप के साथ बेटी के एक नए ढंग के संबंध को दिखलाता है।' (डॉ. वीरभारत तलवार : आलोचना जुलाई-सितम्बर 1989)

निर्मल के चरित्र परिस्थितियों से लड़ते नहीं, बल्कि आत्म-पीड़ा के भाव से ग्रस्त रहते हैं। उन्होंने सामाजिक-पारिवारिक क्षेत्र के चिर-परिचित अनुभवों को लेखन का विषय नहीं बनाया। इनकी जगह उन्होंने ऐसे सवाल उठाए हैं जैसा कि पश्चिमी देशों में उठाए जाते रहे हैं और शायद इसीलिए मानवीय सवाल समझे जाते हैं - मसलन अकेलेपन और अस्मिता के प्रश्न। निर्मल वर्मा के कथ्य और शिल्प को देखकर हम कह सकते हैं कि काव्यात्मक भाषा में कहानी लिखने से अमूर्तन और रहस्यीकरण की प्रवृत्ति ही बढ़ेगी, हमारे सामाजिक यथार्थ को, उसमें निहित पाखंड, विषमताओं और अंतर्विरोधों को उद्‌घाटित करने की शक्ति क्षीण होगी। ऐसा करना गद्य जैसी सशक्त और यथार्थ को अनावृत्त करने वाली विधा की प्रकृति के अनुकूल नहीं होगा।

उपर्युक्त तथ्यों से एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी सामने आता है कि अपनी विशिष्ट कलात्मकता के कारण निर्मल की कहानियाँ पाठक को अपनी भावधारा में बहा तो ले जाती हैं, लेकिन उसे किसी आग्रह-अनुरोध से बाँध नहीं पाती। अतः वह विफल होने के बावजूद जीवन की कोई ऊर्जा नहीं पाता, अपने जीवन में इस तरह भटकने के लिए कोई सम्बल नहीं पाता।

25.6 प्रश्न/अभ्यास

1. नयी कहानी के संदर्भ में 'एक दिन का मेहमान' कहानी का मूल्यांकन कीजिए।
2. 'एक दिन का मेहमान' कहानी में लेखक का मुख्य उद्देश्य क्या है? इस उद्देश्य में वह कहाँ तक सफल सिद्ध हुआ है?

3. नयी कहानी के परिप्रेक्ष्य में निर्मल वर्मा के योगदान को रेखांकित कीजिए।
4. संवेदना एवं शिल्प की दृष्टि से 'एक दिन का मेहमान' कहानी की समीक्षा कीजिए।
5. नारी-पुरुष संबंधों के युगीन यथार्थ का कौन-सा रूप इस कहानी में प्रस्तुत हुआ है। सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
6. माता-पिता के संबंध विच्छेद का परिणाम भोगते बच्चों की द्वंद्वग्रस्त मानसिकता पर एक निबंध लिखिए। (500 शब्दों में)

उपयोगी पुस्तकें

1. कहानी : नयी कहानी - नामवर सिंह
2. हिंदी कहानी : पाठ और प्रक्रिया - सुरेन्द्र चौधरी
3. निर्मल वर्मा : सृजन और चिंतन - प्रेम सिंह
4. निर्मल वर्मा : सं. अशोक बाजपेयी
5. आलोचना, जुलाई-सितम्बर 1989

इकाई 26 सिक्का बदल गया : कृष्णा सोबती

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य
26.1 प्रस्तावना
26.2 सिक्का बदल गया : कथा और कथ्य
26.3 देश विभाजन और मानवीय संबंधों की कहानी
26.4 विभाजन की त्रासदी का अमानवीय अनुभव
26.5 साम्प्रदायिकता की विभीषिका
26.6 विस्थापन से उत्पन्न अलगाव की यंत्रणा
26.7 सारांश
26.8 प्रश्न/अभ्यास
उपयोगी पुस्तकें

26.0 उद्देश्य

इस खंड की यह पांचवी इकाई है। यह इकाई कृष्णा सोबती की कहानी 'सिक्का बदल गया' पर आधारित है। इ.स. 1948 में लिखी गई और 'बादल के घेरे' में संग्रहित इस कहानी में देश के विभाजन के कारण उत्पन्न समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। विभाजन के कारण अपने परिवेश और देश से विस्थापित होने वाले इन्सानों के अन्तर्मन की भावनाओं, और वेदनाओं को इस कहानी में बखुबी अभिव्यक्त किया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- सिक्का बदल गया कहानी में अभिव्यक्त विभाजन की त्रासदी और अपनी जमीन से उखडे लोगों के दर्द को समझ सकेंगे;
- देश विभाजन से टूटते मानवीय मूल्यों और संवेदहीनता के कारण भड़की सांप्रदायिकता और उसके परिणामों की विभिषिका से परिचित हो सकेंगे;
- विभाजन से इंसान-इंसान के बीच पैदा हुए अलगाव की यंत्रणा का विवेचन कर सकेंगे;
- अपनी जमीन और अपने लोगों से बिछुड़ने के दर्द को महसूस कर सकेंगे;
- 'सिक्का बदल गया ' कहानी पर लिखी इस इकाई में इन्हीं बिंदुओं को ध्यान में रखकर सामग्री प्रस्तुत की गई है। इसका ध्यान पूर्वक अध्ययन कीजिए।

26.1 प्रस्तावना

कृष्णा सोबती हिंदी की अत्यंत प्रतिष्ठित उपन्यासकार हैं। उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने कुछ कहानियाँ व अपनी विशिष्ट शैली के संस्मरण भी रचे हैं। उनकी शायद ही काई ऐसी रचना हो जो हिंदी पाठक व समीक्षक समुदाय में खूब चर्चा का विषय न बनी हो। हाल के वर्षों में उनकी लंबी कहानी या उपन्यासिका 'ऐ लड़की' पर जितनी चर्चा पत्र-पत्रिकाओं में हुई, शायद ही किसी अन्य रचना पर हुई हो। इसी प्रकार उनका पिछले वर्षों में प्रकाशित उपन्यास 'दिलो-दानिश' भी अभी तक चर्चा के केंद्र में है।

1925 में विभाजन पूर्व पंजाब में जन्मी कृष्णा सोबती की शिक्षा दीक्षा लाहौर, शिमला व दिल्ली में हुई। कृष्णा सोबती का सृजनात्मक जीवन उनके काव्य लेखन से शुरू हुआ

था, अतः व उनके गद्य में भी उनका काव्यात्मक व्यक्तित्व झलकता है। उनके अब तक प्रकाशित उपन्यासों में 'मित्रो मरजानी', 'डार से बिछुड़ी', 'यारों के यार', 'तिन पहाड़', 'सूरजमुखी अंधेरे के', 'जिंदगीनामा', 'दिलो दानिश' शामिल हैं। 'ऐ लड़की' पहले लंबी कहानी के रूप में प्रकाशित हुई, लेकिन पुस्तक रूप में उसे उपन्यास या उपन्यासिका कहा जा रहा है।

उपन्यासों के अतिरिक्त उनका एकमात्र कहानी संग्रह 'बादल के घेरे' भी खूब चर्चित है। 1980 में प्रथम प्रकाशित इस कहानी संग्रह में उनकी 24 कहानियाँ संकलित हैं, जिनमें 'सिक्का बदल गया' भी शामिल है। कहानियों के अतिरिक्त उनका रेखाचित्र या संस्मरण संग्रह 'हम हशमत' भी प्रकाशित है।

'डार से बिछुड़ी' व 'मित्रो मरजानी' के नाट्य रूपांतर अनेक बार मंचित होकर सफल रहे हैं। 'जिंदगीनामा' उपन्यास पर उन्हें 1980 का साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला व 1981 में उन्हें पंजाब सरकार का 'साहित्य शिरोमणि' पुरस्कार भी मिला। साहित्य अकादमी ने उन्हें अपना फेलो बनाया व दिल्ली व उत्तर प्रदेश सरकार के पुरस्कार कृष्णा सोबती ने लेखक के मान-सम्मान के प्रश्न पर ठुकरा भी दिए। मध्यप्रदेश का पुरस्कार उन्होंने स्वीकार किया है। 'जिंदगीनामा' व 'मित्रो मरजानी' के पंजाबी अनुवाद भी लोकप्रिय हुए हैं। कुछ अन्य भाषाओं में भी उनकी रचनाओं के अनुवाद हुए हैं। 'ऐ लड़की' का अंग्रेजी अनुवाद भी चर्चित हुआ है। उनकी रचनाओं पर देश-विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों में शोध कार्य भी हो रहा है।

कृष्णा सोबती के लेखन की विशिष्टता उनके पंजाबी लोक-जीवन को चित्रित करने में हैं। जिनमें लेखिका का अपना पंजाबी व्यक्तित्व भी पूरी चित्रमयता में झलकता है। उनके लेखन में पंजाबी औरत के दिल का आन्तरिक चित्र बड़ी हार्दिकता से चित्रित किया गया है। पंजाबी औरत को कृष्णा सोबती ने उसके यथार्थ यानि हाड़ माँस से बने रूप में चित्रित किया है, उसका आदर्शीकरण करने का प्रयास नहीं किया है।

इस कहानी संग्रह की विचारणीय कहानी 'सिक्का बदल गया' जुलाई 1948 में रची गई। कृष्णा सोबती ने इस कहानी में सन् 1947 में घटी देश विभाजन की ऐतिहासिक, लेकिन मानवीय स्तर पर अत्यंत हृदय विदारक घटना को आधार बनाया है। विभाजन के राजनीतिक, सामाजिक पहलुओं से हट कर उसके अत्यंत मार्मिक मानवीय पहलुओं को कहानी में वाणी दी गई है। विभाजन में अपना देश, घर, बार छोड़ने की पीड़ा को लेखिका ने कहानी के केंद्र में रखा है, जिस पर हम इकाई के अगले हिस्सों में विचार करेंगे।

26.2 सिक्का बदल गया : कथा और कथ्य

जुलाई 1948 में रची कृष्णा सोबती की कहानी 'सिक्का बदल गया' अत्यन्त मार्मिक कहानी है, जिसमें 1947 के देश-विभाजन की मानवीय पीड़ा का गहराई से अंकन हुआ है।

अविभाजित कश्मीर के निकट चनाब नदी के किनारे बसे गाँव की अकेली बड़ी हवेली में 65-70 वर्ष आयु की शाहनी अकेली रहती हैं। उनके पति शाह जी का देहांत हो चुका है, पढ़ा लिखा बेटा कहीं बाहर रहता है। उसके सैंकड़ों कारिंदे हैं, मीलों तक फैले दूर

दराज के गाँवों तक उसके खेत हैं। यह 1947 के विभाजन का दौर है - लूटपाट, आगज़नी, हत्याओं और शरणार्थी बन कर अपनी धरती छोड़कर परायी धरती की ओर जाने का।

कहानी की शुरूआत पौ फटने पर शाहनी के दरिया किनारे आकर नहाने से होता है, जहाँ वह पिछले पचास वर्षों से नहाती आ रही है। एक दिन वह इसी दरिया के किनारे दुल्हन बन कर आई थी। इन दिनों माहौल में तनाव फैला है। शाहनी शेरे और हुसैना को बुलाती है। शेरे की माँ के मरने के बाद शाहनी ने ही उसे पाल पोस कर बड़ा किया है। लेकिन इन दिनों शेरा तीस चालीस हत्याएँ कर चुका है और दंगाइयों में वह भी शामिल है। हवेली की दौलत पर उसकी भी नज़र है। शाहनी को खबर है कि रात में कुल्लूवाल (पड़ोसी गाँव) के लोग आए थे। शाहनी शेरे से कहती है कि 'आज शाह जी होते तो कुछ बीच बचाव करते' - लेकिन शेरा ऐसा नहीं सोचता, उसे लगता है - 'आज शाह जी क्या, कोई भी कुछ नहीं कर सकता। यह होके रहेगा - क्यों न हो? हमारे ही भाई-बहनों से सूद ले-लेकर शाह जी सोते की बोटियाँ तोला करते थे। प्रतिहिंसा की आग शेरे की आँखों में उतर आई।'

लेकिन शेरा शाहनी से कैसे प्रतिहिंसा जताए, जिसने उसे बेटे की तरह पाला है (वह शाहनी को सावधान भी करना चाहता हे, लेकिन कैसे करे। पास के जलालपुर गाँव में आग लगी है, शेरे को इसकी पूर्व सूचना थी। शाहनी के नाते-रिश्ते सब वहीं थे।)

शाहनी हवेली लौटती है तो ट्रक आने की चर्चा सुनती है। गाँव वाले शाहनी की हवेली पर इकट्ठे होने लगते हैं। शाहनी को भी लगता है कि वक्त आ गया है। शाहनी की असामियाँ वहाँ हैं, जिन्हें उसने कभी नाते-रिश्तों से कम नहीं समझा। शाहनी को दंगाइयों की योजनाओं की जानकारी थी उसकी हवेली को लूट लेने की योजना की भी, लेकिन शाहनी जान कर भी अनजान बनी रहती है। उसने कभी किसी से बैर नहीं किया।

थानेदार दाऊद खाँ शाहनी को लेने आया है। यह वही शाहनी है, जिसने उसकी मंगेतर के लिए सोने के कनफूल मुँह दिखाई में दिए थे। जो उससे मसीत के लिए भी तीन सौ रुपए चंदा ले गया था। वह शाहनी को कुछ सोना-चाँदी-नगदी साथ लेने का सुझाव देता है, जिसे शाहनी ठुकरा देती है।

शेरा कहता है कि देर हो रही है। शाहनी आहत हो उठती है "देर - मेरे घर में मुझे देर!" आँसुओं की भंवर में न जाने कहाँ से विद्रोह उमड़ पड़ा। "मैं पुरखों के इस बड़े घर की रानी और यह मेरे ही अन्न पर पले हुए..... नहीं, यह सब कुछ नहीं। ठीक है - देर हो रही है।"

शाहनी अपने पुरखों के घर से रोकर नहीं, मान और शान से निकलेगी। उसके ड्योढ़ी से बाहर आते ही बड़ी-बूढ़ियाँ रो उठती हैं। शाहनी हवेली को अंतिम बार देख दोनों हाथ जोड़ सिर झुका देती है। ड्योढ़ी के आगे कुलवधू की आँखों से निकल कर कुछ बूँदे चू जाती हैं। खाली हाथ निकलती है शाहनी। सोना-चाँदी-नगदी-दौलत-हवेली में ही रहेगी। खूनी शेरे का दिल टूटता है। इस्माइल आसीस माँगता है और शाहनी की आसीस है "रब्ब तुम्हें सलामत रखे बच्चा, खुशियाँ बख्शे..... "

दाऊद खाँ कहता है ''शाहनी, मन में मैल न लाना। कुछ कर सकते तो उठा न रखते। वक्त ही ऐसा है। राज पलट गया है, सिक्का बदल गया है.....''

कैंप में पहुँच आहत मन से शाहनी सोचती है ''राज पलट गया..... सिक्का क्या बदलेगा? वह तो मैं वहीं छोड़ आई!''

कहानी समाप्त होती है तीन अर्थपूर्ण वाक्यों से। और शाह जी की शाहनी की आँखें और भी गीली हो गई।

आसपास के हरे-हरे खेतों से घिरे गाँवों में रात खून बरसा रही थी। शायद राज पलटा खा रहा था और - सिक्का बदल रहा था.....।

शाहनी की इस झकझोर देने वाली पीड़ा से विभाजन के मर्मान्तक दर्द को व्यक्त करने वाली कहानी यहीं समाप्त होती है।

कृष्णा सोबती की यह कहानी पचास वर्ष से अधिक पुराने विभाजन के दर्द को व्यक्त करने वाली कहानी है। इन पचास वर्षों में कृष्णा सोबती ने अत्यंत महत्वपूर्ण लेखन किया है, लेकिन लगता है कि उनकी बहुत पहले की रचनाएँ भी अत्यंत परिपक्व हैं। कृष्णा सोबती ने यह कहानी करीब 23 वर्ष की आयु में लिखी। ' बादलों के घेरे' संग्रह में केवल उनकी दो और कहानियाँ ऐसी हैं, जो इस कहानी से पहले लिखी गई हैं। संभवतः 'नफीसा' उनकी सर्वप्रथम रचना है, जो जनवरी 1944 में अर्थात् 19 वर्ष की आयु में लिखी गई है और 'लामा' वर्ष बाद रची गई। 'सिक्का बदल गया' आश्चर्यजनक रूप से प्रौढ़ कहानी है। अपनी रचना के पचास वर्ष बाद भी इस कहानी का महत्व निर्विवाद है व अंशतः कहानी के कथा कौशल और इसकी प्रभाविकता से और अंशतः इसके महत्वपूर्ण कथ्य के कारण। देश-विभाजन की मानवीय पीड़ा को ही लेखिका ने कहानी का कथ्य बनाया है, जो अपनी समसामयिकता के कारण ही नहीं, वरन् गहन मानवीय मूल्यों के कारण भी प्रभावशाली बन कर प्रस्तुत हुआ है।

'सिक्का बदल गया' अपनी कथा और कथा वस्तु के कारण तो सफल कहानी बनी ही है जिसमें कथा संयोजन की विभिन्न युक्तियों की भूमिका है, जैसे कथा के विवरण में परिवेश का अत्यंत सूक्ष्म व मर्मस्पर्शी अंकन, कथा के गठन में कसाव आदि। कहानी में कथारस पर जोर न देकर लेखिका ने वस्तु पक्ष को प्रभावी बनाया है।

26.3 देश विभाजन और मानवीय संबंधों की कहानी

'सिक्का बदल गया' का कथ्य क्या है? लेखिका इतनी मार्मिक स्थितियाँ अंकित कर कहना क्या चाहती है? वास्तव में 'सिक्का बदल गया' की कथा में कहानी का कथ्य भी अन्तर्निहित है।

विभाजन भारतीय समाज के जीवन में भयानक विस्फोट के रूप में प्रकट हुआ जिसके कारण आर्थिक समस्याएँ ही सामने नहीं आयी वरन् राष्ट्रीय जीवन की आत्मा भी झुलस गई। सदियों से अर्जित भाषा, मानवीय संबंध, मानवता के आदर्श, मानव मूल्य और मानव जाति का विवेक साम्प्रदायिकता का आघात सह न सके। राजनैतिक अस्त/व्यस्तता ने उखड़े हुए वर्ग को भयाक्रांत तो किया ही उसकी परम्परा और उसका सामाजिक

ढाँचा, संबंधों की आस्था और परिवार की नींव को भी हिलाकर रख दिया। यह दुर्घटना केवल राजनीतिक या किसी वर्ग विशेष से ही जुड़ी नहीं रही बल्कि इससे लाखों-करोड़ों लोगों की जिंदगी उनका वर्तमान और भविष्य, उनकी सभ्यता और संस्कृति उनका आचरण और व्यवहार भी जुड़ा हुआ था।

इसमें संदेह नहीं कि हिंदू और मुसलमान सदियों तक एक ही स्थान पर एक साथ रहने के कारण ही एक ही एक धरती और संस्कृति से भावनात्मक स्तर पर जुड़े हुए थे। पाकिस्तान के निर्माण के पक्षधर यह भलीभांति जानते थे कि पाकिस्तान बनने के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा हिंदू मुसलमानों का सांझा जातीय-सांस्कृतिक संस्कार है। वे इस संस्कार को कमजोर करके नष्ट कर देना चाहते थे। इस वर्ग में हिंदू और मुसलमान दोनों ही संप्रदायों के लोग थे। इसी मानवीय करुणा का मूल केन्द्रीय स्वर विभाजन की पीड़ा झेलने वाले पात्रों की कहानियों में मुखरित है और यह मानवीय करुणा भीषण नरसंहार में भी अनेक अर्थच्छवियों में अपनी शाश्वतता को चरितार्थ करती है।

कहानी विभाजन की उस प्रक्रिया को भी उजागर करती है, जिसमें सरकार का यह प्रयत्न था कि मुस्लिम बहुल देश में फंसे हुए हिंदुओं को कैंपों तक सुरक्षित लाने के लिए ट्रकों का प्रबंध किया जाए।

विवेच्य कहानी में विभाजन के दिनों की लोगों की मानसिकता का भी उद्‌घाटन किया गया है। मुस्लिम बहुल प्रदेश होने के कारण शाहनी का भीतर ही भीतर डरना, दंगाइयों के आवागमन के संकेत मिलते ही सहम जाना और पड़ोसी गाँव को आग में जलते हुए देखकर अवाक् रह जाना, इस बात के प्रमाण हैं। बहुसंख्यक संप्रदाय का शेरा, जिस पर शाहनी के असंख्य उपकार हैं, जिसका उसने बेटे के समान पालन-पोषण किया है, भी परिवर्तित परिस्थितियों में अन्य लोगों के परामर्श पर शाहनी की हत्या करने और उसके सामान को बाँटने की बात सोचता है और एक सीमा तक निर्णय भी कर लेता है।

विभाजन की नृशंस हत्याओं और दिल दहलाने वाली घटनाओं के बावजूद मानवता पूर्णतया समाप्त नहीं हुई थी। विवेच्य कहानी इस स्थिति की ओर भी संकेत करती है। शाहनी सदा के लिए गाँव छोड़कर जा रही है, क्योंकि राज्य पलट गया है, यह देखकर विदाई लेती है। शेरा, जो शाहनी की हत्या की योजना में शामिल था, वही शाहनी को कैंप ले जाने के लिए आए ट्रक तक छोड़ते वक्त उसकी आँखें नम हो आई थी।

'सिक्का बदल गया' के शाहजी, जो देहांत के कारण अनुपस्थित हैं, पृष्ठभूमि की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका के कारण कहानी में सर्वत्र मौजूद हैं। उन्होंने गाँव के चारों ओर मीलों फैली धरती को अपनी जायदाद बना लिया है। ये ज़मीनें किस तरह शाह जी की बनी, इसके कुछ संकेत कहानी के भीतर से मिलते हैं। शेरे के शब्दों में शाह जी उनके भाई-बन्दों से सूद ले-लेकर इतने अमीर बने हैं। लेकिन इस अमीरी के बावजूद उनके संबंध शोषक-शोषित की सामान्य परिभाषा में नहीं आते। शाहनी के अनुसार उसने अपने कारिन्दों को रिश्ते-नातेदारों की तरह रखा है। शेरे को जिस तरह शाहनी ने पाला उसमें भी उस दौर की मानवीयता का गहरा स्पर्श दिखाई देता है। यही वजह है कि शेरे के मन में शाह जी के प्रति प्रतिहिंसा का भाव होकर भी शाहनी के बारे में हिंसा की बात सोचना उसे विचलित कर देता है। शेरा और उसकी पत्नी हुसैना शाहनी के कारिन्दे ही हैं, लेकिन शेरा विभाजन के दौर की लूटपाट व हत्याकांडों में भी शामिल है। तीस-चालीस हत्याएँ वह कर भी चुका है। लेकिन शाहनी के ऊपर हाथ उठाना उसके लिए मुश्किल है। हालाँकि एक रात पहले ही शाहनी की संपत्ति लूटने की योजनाएँ वे बना

चुके थे। शाहनी जब ट्रक पर सवार होकर शारणार्थी बन कर चलने के लिए तैयार होती है तो शेरे की आँखें भर आती हैं।

वास्तव में एक मानवीयता की भावना, जिसमें कुछ हद तक सामंती तत्व भी शामिल है, को प्रस्तुत करना ही 'सिक्का बदल गया' का मूल कथ्य है। इस मानवीयता को शाहनी के उदात्त चरित्र द्वारा तब और भव्य रूप प्राप्त हो जाता है जब वह हवेली से सोना-चाँदी या नगदी कुछ भी लेने से मना कर देती है। निरपेक्ष भाव से कह देती है कि बच्चा ये तुम लोगों का है। हवेली और ज़मीनों से लगाव उसे अब भी है, लेकिन स्थिति की गंभीरता को समझ कर उनसे निरपेक्ष होना भी शाहनी ने सीख लिया है।

कृष्णा सोबती की विश्व-दृष्टि में गहरी व उदार मानवीयता है, इसीलिए वे मानवीय संबंधों को सहानुभूति के साथ प्रस्तुत करती हैं। वास्तव में 1947 का देश-विभाजन भले ही अचानक घटित होने वाली घटना न हो, फिर भी सुदूर गाँवों तक तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं या षडयंत्रों की रोज़-ब-रोज़ खबर न थी। वे दिन ऐसे मीडिया केंद्रित दिन भी नहीं थे, जिसमें पूरी दुनिया सचमुच के ग्लोब आकार (टी.वी. का पर्दा) में सिमट जाए। इसलिए विभाजन और विभाजन की स्थिति से पैदा आगजनी, लूटपाट, दंगे, हत्याओं आदि की भयानक घटनाएँ ग्रामीण पंजाब की शांत जिंदगी में भयंकर खलल डालने वाली घटनाएँ थीं। इस स्थिति को 'कंट्रास्ट' के रूप में लेखिका ने अत्यंत प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। एक ओर शाहनी पिछले 50 वर्ष से इतनी शांत, चैनयुक्त टिकी हुई दुनिया में रोज, दरिया में नहाती आ रही है और दूसरी ओर अचानक 50 वर्ष की शांत टिकी जिंदगी की गति में भयंकर अवरोध आ जाता है। इस स्थिति से गाँव के लोग अभी पूरी तरह अवगत भी नहीं है, उनकी मनःस्थिति उसका पूरा प्रभाव ग्रहण कर पा सकने की स्थिति में भी नहीं आ पाई है। नवाब बीबी के शब्दों में ''शाहनी, आज तक कभी ऐसा न हुआ, न कभी सुना। गज़ब हो गया, अंधेर पड़ गया।''

देश-विभाजन की घटना देश के साधारण नागरिकों, विशेषतः पंजाब व बंगाल की जनता के लिए, वह हिंदू हो या मुसलमान या सिख, के लिए एक आश्चर्यजनक व अंधेर पड़ने जैसी घटना ही थी, भले ही राजनीति के खिलाड़ियों के लिए वह घटना 'स्वतंत्रता' और 'आज़ादी' और नए 'पाक मुल्क' के सृजन के साथ कितनी ही स्वागत योग्य रही हो।

कृष्णा सोबती ने अपनी इस छोटी सी, लेकिन मार्मिक कहानी में देश-विभाजन का पंजाब की साधारण ग्रामीण जनता पर पड़ने वाले प्रभाव को 'सिक्का बदल गया है' का कथ्य बनाया है। इस कथ्य को प्रस्तुत करने में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है।

26.4 विभाजन की त्रासदी का अमानवीय अनुभव

विभाजन भौगोलिक सीमाओं का ही विभाजन नहीं था वह तो समस्त मानवीय मूल्यों, आशाओं, आकांक्षाओं एवं अपनी जड़ों से उखड़ने की त्रासदायक पीड़ा का भी अनुभव था। 'सिक्का बदल गया' कहानी में अपनी जमीन, हवेली सब कुछ छोड़कर शाहनी को जाना पड़ता है। बूढ़ी शाहनी, जिसने सभी को प्यार दिया, ममता दी, दंगे-फसाद और प्रतिहिंसा की शिकार बन जाती है। सांप्रदायिक चेतना के भीतर विलुप्त एकता को तलाशती, उसकी पीड़ा को भोगती मानसिकता की करुण गाथा इस कहानी में चित्रित हुई है।

अपनी जमीन से उखड़ने की उसकी पीड़ा इतनी गहरी है कि उसके आगे उसे राज्य पलटने का महत्व है, न सिक्का बदलने का, सारी पीड़ा है अपनों के बीच पराया बन जाने की। शाहनी के लिए बँटवारे के कारण हुकूमत के बदल जाने का, सिक्का बदल जाने का अर्थ नहीं है। उसे तो मानवीय मूल्यों के सिक्के बदल जाने तथा संबंधों के निरर्थक बना दिए जाने का दुख है। यही उसकी अंतर्वेदना है।

विभाजन के अनगिनत लोगों के जीवन को भावात्मक, विचारात्मक और मनोवैज्ञानिक धरातल पर हिला के रख दिया। देश विभाजन से उत्पन्न विभिन्न समस्याओं में प्रमुख थी आवास की समस्या। स्त्रियों के अपहरण और बलात्कार की अमानुषिक घटनाओं से संपूर्ण स्त्री जाति के भयंकर असुरक्षितता, अपमानबोध और अत्याचार से गुजरने की त्रासदी। स्वातंत्र्योत्तर कहानियों में इन सभी पीड़ा, घुटन, असंवेदनशीलता, नैतिक मूल्य-मान्यताओं के टूटने के दंश, मानवीय मूल्यों के ध्वंस होने को अभिव्यक्ति हुई है। देश विभाजन की त्रासदी बहुत ही भीषण थी। आदमी की आदमी के प्रति क्रूरता चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। स्वातंत्र्योत्तर रचनाकारों ने इस पाशविशकता को रचनाओं के मार्फत अभिव्यक्त किया। बहुत से कहानीकारों ने तो सुना ही नहीं है, भोगा भी है।

विभाजन की विभीषिका ने स्वतंत्रता पूर्व के देश की प्रतिमा या को खंडित कर दिया। राजेन्द्र यादव ने इस बारे में कहा है कि 'पाकिस्तान में अगर ईट-चूने के मकान, जमीनों का ध्वंस हुआ तो इधर सारी मर्यादाएँ, नैतिक मान्यताएँ, अच्छे-बुरे की बड़ी-बड़ी इमारतें गिरने लगीं।' सांप्रदायिकता की भीषणता ने मानवता की सभी दीवारें ढहा दी थी। विभाजन ने इंसान को आंतरिक और बाह्य रूप से ध्वस्त कर दिया था। विभाजन की त्रासदी स्वातंत्र्योत्तर कहानियों में ऊपरी सतह की घटनाओं को ही नहीं बल्कि मानवी मन में घटित उथल-पुथल, टूटन, निराशा, विवशता और पीड़ा को अभिव्यक्ति करती है। विभाजन जैसी राजनीतिक-स्वार्थपरता का यथार्थ चित्रण इस समय की कहानियों ने किया है। कृष्णा सोबती की 'सिक्का बदल गया' देश के विभाजन की पृष्ठभूमि में नाते-रिश्तों के यकायक बदल जाने और झूठे पड़ जाने की पीड़ा की संवेदनशील कहानी है।

भारत विभाजन की माँग तो 1933 में ही मुस्लिम लीग ने कर दी थी, लेकिन 1945 के बाद देश का विभाजन लगभग निश्चित ही माना जा रहा था और 1946 तक आते-आते परिस्थितियाँ और ज्यादा खराब हो चुकी थी। इस दौर में बंगला, हिंदी, पंजाबी, गुजराती, सिंधी, उर्दू आदि भाषाओं में इन परिस्थितियों की अभिव्यक्ति भी होने लगी थी।

'सिक्का बदल गया है' कहानी 1948 में रची गई। विभाजन पर 1947 से शुरू होने वाला साहित्य आज भी जारी है। कुछ महत्वपूर्ण रचनाएँ 1955-60 के बीच, और 1970-75 के बीच भी लिखी गई। 'झूठा सच' उपन्यास 1950 और 1960 में छपा, 'तमस' 1973 में, 1947-50 के बीच रामानंद सागर का 'और इंसान मर गया' और शमशेर सिंह नरुला का 'एक पंखुड़ी की तेज़ धार' आदि उपन्यास भी छपे। हिंदी, पंजाबी, उर्दू, अंग्रेजी, बंगला, गुजराती, सिंधी आदि में इसी बीच सैंकड़ों कहानियाँ भी प्रकाशित हुई। पंजाबी में महिंदर सिंह सरना जैसे लेखकों के पास अभी भी विभाजन संबंधी कहानियों का अकूत भंडार है और उनकी अधिकांश कहानियाँ अभी भी विभाजन की स्थिति को ही चित्रित कर रही है।

विभाजन संबंधी अनेक भाषाओं में रचे अधिकांश कथा-साहित्य में मानवीय पीड़ा ही बार-बार चित्रित हुई है। इसलिए अधिकांश रचनाओं में कई बार दोहराव की स्थिति भी लग

सकती है। मानवीय स्थितियों के भी सभी लेखकों के यहाँ मिलते जुलते पहलू हैं। इनमें सर्वाधिक चित्रित स्थिति है - सदियों से चले आ रहे हिंदू-सिख-मुस्लिम सद्भाव में भयानक खलल, विभाजन की योजना घोषित होते ही तीनों संप्रदायों के बीच सांप्रदायिक दंगे शुरू हो जाते हैं। ये दंगे छिटपुट रूप में पहले भी होते रहे हैं। मार्च 1947 में रावलपिंडी और उसके आसपास के गाँवों में ये दंगे बड़े पैमाने पर शुरू हुए, जिन्हें आधार बना कर भीष्म साहनी ने 'तमस' उपन्यास की रचना की।

विभाजन संबंधी साहित्य में दूसरी मानवीय पीड़ा की स्थिति है - विस्थापन, भटकन और शरणार्थी बन कर जीने के लिए संघर्ष की स्थिति। बंगला, सिंधी, गुजराती आदि भाषाओं के साहित्य में यह स्थिति ज़्यादा विस्तार से अंकित हुई है, क्योंकि उन क्षेत्रों में हिंसा कम हुई, विस्थापन द्वारा शरणार्थी बनने की स्थिति अधिक पैदा हुई। जबकि पंजाबी, उर्दू, हिंदी में दोनों ही स्थितियाँ हिंसा और विस्थापन बड़े पैमाने पर घटी हैं। पंजाब क्षेत्र की हिंसा में पाँच-छह लाख निर्दोष लोग धार्मिक कटुता में एक दूसरे के हाथों मारे गए। इससे अधिक स्त्रियाँ अपमानित हुई। करीब एक करोड़ लोग अपने घरों - जमीनों से विस्थापित होकर शरणार्थी बनने पर विवश हुए। करीब एक साल से कुछ अधिक समय तक ये स्थितियाँ चलीं। शरणार्थी कैंप और उनके साथ जुड़ा जीवन-संघर्ष तो और भी कई साल लंबा खिंचा।

विभाजन-प्रभावित साहित्य में तीसरी मानवीय स्थिति है - हिंसा और विस्थापन के प्रभाव से पैदा हुई मानवीय अलगाव की मनःविकृतियाँ। इस स्थिति का चित्रण साहित्य में हुआ तो है, लेकिन उतनी गहराई और विस्तार में नहीं जितनी गहराई और विस्तार की ऐसे साहित्य में अपेक्षा थी। वैसे उर्दू का 'उदास नस्लें' जैसे उपन्यास विभाजन के दुःखद प्रभाव के इस रूप को भी साहित्य में अंकित करने में सफल रहे हैं।

26.5 साम्प्रदायिकता की विभीषिका

सांप्रदायिक दंगों में सांप्रदायिक आधार पर परस्पर हत्याओं के अतिरिक्त लूटपाट, आगजनी, धार्मिक आधार पर हिंसा, जबरदस्ती धर्म परिवर्तन, स्त्रियों के साथ बलात्कार और व्यापक हत्याएँ आदि। शामिल हैं। विभाजन संबंधी अधिकांश कथा-साहित्य, विशेषतः पंजाबी, हिंदी, उर्दू व अंग्रेजी में इस प्रकार की घटनाएँ अधिक व्यापक रूप में चित्रित हुई हैं।

कृष्णा सोबती की अपेक्षाकृत छोटी कहानी 'सिक्का बदल गया है' में विभाजन के दुष्प्रभावों के सभी रूपों को किसी-न-किसी स्तर पर देखा जा सकता है।

'सिक्का बदल गया है' कहानी का आरंभिक पैराग्राफ जीवन के सामान्य रूप को चित्रित करता है, जिसमें शाहनी पौ फटते ही दरिया पर नहाने जाती है। लेकिन दूसरे पैरा में ही विभाजन के प्रभाव की परछाई नज़र आने लगती है, जब शाहनी 'रेत में अगणित पाँवों के निशान' देखकर 'सहम-सी' जाती है। शाहनी का यह सहमना वातावरण में पिछले कुछ समय से आ रहे त्रासजनक परिवर्तन को इंगित करता है।

शाहनी को आज इस प्रभात की मीठी नीरवता में 'कुछ भयावना सा लग रहा है' उनका 'चक्की वाला' कुआं भी आज नहीं चल रहा। शाहनी जब अपने खास कारिंदे शेरे और उसकी बीवी हुसैना को आवाज़ देती है तो उसकी प्रतिक्रिया विभाजन के दिनों की

त्रासदी को और अधिक उज़ागर कर देती है। शाहनी ने शेरा को उसकी माँ जैना के मरने के बाद पाल पोसकर बड़ा किया है, लेकिन इस समय उसके पास गंड़ासा हे, जो वह शाहनी की आवाज़ सुन छिपा देता है। 'वह सोच रहा था कि उस शाहनी की ऊँची हवेली की अंधेरी कोठरी में पड़ी सोने-चाँदी की संदूकचियाँ उठाकर.....'

शाहनी को मालूम है कि कल रात गाँव में पड़ोसी गाँव कुल्लूवाल के लोग आए थे और कुछ लूटपाट की योजना बनाकर गए थे। शेरा भी उनकी मीटिंग में शामिल था, वह इस माहौल में तीस-चालीस हत्याएँ कर चुका है। 1947 के माहौल में कोई आदमी कितने इंसानों की हत्या कर सकता था, इसका कोई हिसाब न था, न इसके लिए अपनी ज़मीर से कोई कोंच होती थी। राज्य की व्यवस्था में भी इन जघन्य अपराधों के लिए कोई रोक नहीं थी। और यह सब धर्म के नाम पर ज़ायज़ ठहराया जाता था।

लेकिन इससे भी त्रासद पक्ष है, शेरे का शाहनी की दौलत पर हाथ साफ करने की सोचना। हालाँकि उसका सामना वह नहीं कर सकता, लेकिन दिमाग में ऐसे विचार आना भी उस समय के सामाजिक वातावरण के कलुषित होने की दशा को दर्शाते हैं। शेरे के मस्तिष्क में शाह परिवार के प्रति हिंसा की आग पैदा होने का कुछ आधार लेखिका ने संकेतित किया है। शाह परिवार द्वारा इस क्षेत्र के गरीब मुसलमानों का आर्थिक शोषण, यद्यपि यह आर्थिक शोषण बहुत स्पष्ट रूप से चित्रित नहीं किया है, शेरे जैसे गरीब कारिन्दों के मन में प्रतिहिंसा का भाव जगाता है। यह प्रतिहिंसा उन दिनों की परिस्थितियों में धार्मिक कट्टरता के रूप में स्वाभाविक थी।

शेरे के मन में यह प्रतिहिंसा आर्थिक कारणों से है, लेकिन मानवीय व्यवहार भी उतनी ही बड़ी सच्चाई है। शाहनी के ममता भरे हाथ कैसे उसे बचपन में दूध पिलाते थे, यह याद आता है तो शेरा विचलित हो जाता है। 'कल रात वाला मशवरा', है जिसमें शाहनी के सामान बाँट की योजना से लेकर उसकी हत्या की योजना है। इससे विचलित होकर वह शाहनी को बचाना चाहता है। उसे घर छोड़ने उसके साथ चलता है और अंत में अन्तर्द्वंद्व! साथी शाहनी को मारना चाहते हैं, वह शाहनी को सावधान करना चाहता है, लेकिन 'कैसे कहे?'

विभाजन के दिनों में या हाल में पंजाब के आतंकवाद के दिनों में हिंसा को अपना कर भी, यह अंतर्द्वंद्व बना रहता है कि अपने परिचितों को कैसे मारे, कैसे उन्हें लूटे। विभाजन के आतंक या हाल के आतंकवाद में अपनी ज़मीर को बस इतना सा बचाने के लिए - दंगाइयों व हिंसा में लिप्त व्यक्तियों ने सिर्फ अपने गाँव, मुहल्ले या कस्बे को तो बख्श दिया और दूसरे गाँव कस्बे या मुहल्ले में बिना किसी ज़मीर के जम कर हिंसा की। शेरा भी तीस-चालीस हत्याएँ कर चुका है। शाहनी की दौलत पर भी उसका मन ललचा चुका है, लेकिन एक डोर शाहनी से अभी भी बँधी है, जो उसे उसकी हत्या करने से रोके हुए है।

शाहनी के साथ चलते हुए और शाहनी के प्रति कुछ सहानुभूति रखते हुए भी शेरे को शाहनी के नाते-रिश्तेदारों की कोई चिंता नहीं है। क्योंकि उनके साथ उसका कोई मानवीय संबंध नहीं है। शेरे को मालूम है कि आज पड़ोसी जबलपुर गाँव में आग लगनी थी, सो लग गई, आसमान धुएँ से भर गया है। शाहनी के 'नाते-रिश्ते सब वहीं हैं।'

शाहनी हवेली पहुँचती है। उसका मन शून्य में है, शेरा लौट जाता है। शाहनी लेटती है तो उठ नहीं पाती, हवेली खुली है, और शाहनी को लगता है कि आज उसका अधिकार

उससे छूट रहा है। आज उस हवेली से मोह नहीं हो रहा। तभी रसूली से उसे लेने आए ट्रक की खबर मिलती है। सारे गाँव में खबर फैल जाती है, गाँव इकट्ठा हो जाता है, गाँव के जो आसामी उसके लिए नाते-रिश्तों से कम नहीं थे, आज कोई उसका नहीं, वह निपट अकेली है।

हवेली आ गयी। शाहनी ने शून्य मन से ड्योढ़ी में कदम रखा। शेरा कब लौट गया उसे कुछ पता नहीं, दुर्बल-सी देह और अकेली, बिना किसी सहारे के न जाने कब तक वहीं पड़ी रही शाहनी। दुपहर आयी और चली गयी हवेली खुली पड़ी है। आज शाहनी नहीं उठ पा रही है। जैसे उसका अधिकार आज स्वयं ही उससे छूट रहा है। शाहजी के घर की मालकिन.... लेकिन नहीं, आज मोह नहीं हट रहा है मानो पत्थर हो गयी हो। पड़े-पड़े शाम हो गयी, पर उठने की बात फिर भी नहीं सोच पा रही। अचानक रसूली की आवाज सुनकर चौंक उठी।

रसूली, लाह बीबी, बेगू पटवारी, मुल्ला इस्माइल, ये सब शाहनी के खैरख्वाह हैं, लेकिन वे सोचते हैं कि कोई क्या कर सकता है - 'सिक्का बदल गया है' थानेदार दाऊद खां शाहनी को लेने आया है, दूसरे शब्दों में उसकी जान बचाने, मगर साथ ही विस्थापित करने, उसे शाहनी से शरणार्थी बनाने आया है। इन सब पर शाहनी और शाह जी के कुछ-न-कुछ एहसान हैं। ये लोग शाहनी की मदद कर कुछ एहसान चुकाना भी चाहते हैं, लेकिन शाहनी उजड़ने में भी अपनी शान बरकरार रखना चाहती है। उसने जीवन भर दिया ही दिया है, अब वह अपना घर बार, ज़मीन-ज़ायदाद, दौलत भी ऐसे छोड़ कर जा रही है जिसमें उसकी शान है। अपने ही घर का सोना-चाँदी-नगदी लेना उसे अब गवारा नहीं, क्योंकि अपनी ही चीज़ लेने के लिए उसे दूसरों का एहसानमंद होना पड़ेगा और शाहनी एहसान करना जानती है, एहसान लेना नहीं। इसलिए वह दाऊद खाँ थानेदार का सोना-चाँदी-नगदी साथ लेने का सुझाव ठुकरा देती है।

''शाहनी!'' दाऊद खाँ ने आवाज दी। वह थानेदार है, नहीं तो उसका स्वर शायद आँखों में उतर आता।

शाहनी गुमसुम, कुछ न बोल पायी।

''शाहनी!'' ड्योढ़ी के निकट जाकर बोला, ''देर हो रही है शाहनी (धीरे से) कुछ रखना हो तो रख लो। कुछ साथ बाँध लिया है? सोना-चाँदी.....'' शाहनी अस्फुट स्वर में बोली, ''सोना-चाँदी!'' जरा ठहरकर सादगी से कहा, ''सोना-चाँदी बच्चा, वह सब कुछ तुम लोगों के लिए है। मेरा सोना तो एक-एक जमीन में बिछा है।''

गहरी वेदना और तिरस्कार से भर उठी है शाहनी। शेरे को डर है कि शाहनी दाऊद खां को ही हवेली से कुछ दे दिला न दे। इसलिए वह देर होने की बात कहता है, जो शाहनी के लिए और भी मर्मान्तक है। जिस घर में वह पचास वर्ष रही, उस घर से घंटे भर में ही निकल जाने के लिए विवश और ऊपर से 'अपनों' द्वारा ही देरी की चेतावनी!

शाहनी चौंक पड़ी। देर....मेरे घर में मुझे देर ! आँसुओं की भँवर में न जाने कहाँ से विद्रोह उमड़ पड़ा। मैं पुरखों के इस बड़े घर की रानी और यह मेरे ही अन्न पर पले हुए....नहीं, यह सब कुछ नहीं, ठीक है.....देर हो रही है। शाहनी के जैसे कानों में यही गूँज रहा है - देर हो रही है...पर नहीं, रो-रोकर नहीं शान से निकलेगी इस पुरखों के

घर से। मान से लाँघेगी यह देहरी, जिस पर एक दिन बहू रानी बनकर आ खड़ी हुई थी।

बड़ी हवेली जैसे उसकी अपनी है। शाहनी हवेली की देहरी से उसी शान और मान से बाहर निकलती है, जिस शान और मान से पचास वर्ष पहले दाखिल हुई थी। हवेली के प्रति सम्मान और ममता में आँखों से कुछ बूँदे चू जाती हैं।

शाहनी ने दुपट्टे से सिर ढाँपकर धुँधली आँखों से हवेली को अंतिम बार देखा। उसने दोनों हाथ जोड़ लिये - यही अंतिम दर्शन था, अंतिम प्रमाण था। शाहनी ने जोर मारा.....सोचा, एक बार घूम-फिरकर पूरा घर क्यों न देख आऊँ मैं? जी छोटा हो रहा है, पर जिनके सामने हमेशा बड़ी बनी रही है उनके सामने वह छोटी न होगी। इतना ही ठीक है। बस हो चुका। सिर झुकाया। ड्योढ़ी के आगे कुल-वधु की आंखों से निकलकर कुछ बूंदें चू पड़ी। शाहनी चल दी - ऊँचा भवन पीछे खड़ा रह गया। दाऊद खाँ, शेरा, पटवारी, जैलदार और छोटे-बड़े, बच्चे-बूढ़े, मर्द-औरतें सब पीछे-पीछे।

शाहनी की इस शान से 'खूनी शेरे का दिल भी टूट रहा है।' दाऊद खां ने आगे बढ़कर ट्रक का दरवाजा खोला। शाहनी बढ़ी। इस्माइल ने आगे बढ़कर भारी आवाज़ से कहा, *''शाहनी, कुछ कह जाओ, तुम्हारे मुँह से निकली असीस झूठ नहीं हो सकती।''* और शाहनी उसका किरदार जानते हुए भी उसे 'तुम्हें भाग लगे चन्ना।' की आसीस देकर ही गाँव से विदा होती है।

शाहनी की आँखें और गीली हो गयी। आसपास के हरे भरे खेतों में रात खून बरसा रही थी।

कृष्णा सोबती ने कुल साढ़े छः पृष्ठों में 1947 के देश-विभाजन के परिवेश की मानवीय पीड़ा को इतने सघन रूप में प्रस्तुत किया है कि कहानी रचना के पचास वर्ष बाद भी (विशेषतः जब दोनों देशों में पचासवीं जयंती के जश्न मनाए जा रहे हैं) 'सिक्का बदल गया है' पुराने दिनों का चित्र आँखों के सामने इतने मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करती है कि आजादी की व्यर्थता का बोध होने लगता है और विभाजन का दर्द एक बार फिर पूरी शिद्दत से उभर कर सामने आने लगता है।

'सिक्का बदल गया है' में विभाजन के दर्द के तीनों पहलू मौजूद हैं। विभाजन की स्थितियों से पैदा हुए सांप्रदायिक दंगे, जिनमें हत्याएँ, आगज़नी, लूटपाट, बलात्कार आदि हैं, इन स्थितियों की जानकारी कहानी में सांकेतिक रूप में चित्रित है और स्पष्ट रूप में भी। शेरे का तीस-चालीस हत्याएँ कर चुकना, जलालपुर में लगी आग, शाहनी की हत्या, और उसकी हवेली लूटने की योजना के साथ अनेक परोक्ष संकेत भी हैं। ये घटनाएँ 1947 के दिनों में फैली सांप्रदायिक कटुता व उसके भयंकर दुष्परिणामों की स्तब्ध कर देने वाली जानकारी देती है।

26.6 विस्थापन से उत्पन्न अलगाव की यंत्रणा

'सिक्का बदल गया है' में विभाजन की पीड़ा का दूसरा मानवीय पहलू - विस्थापन व शरणार्थी की नियति से जुड़ा हुआ है। वास्तव में विभाजन से उत्पन्न विस्थापन और शरणार्थी बनना उतना ही त्रासद और पीड़ादायक अनुभव है, जितना हिंसा के अधिक

क्रूर दिखाई देते रूप। कोई व्यक्ति, जो पीढ़ियों से अपने पुरखों की परंपरा समेटे किसी विशेष गाँव, कस्बे, शहर में हो उसे अपना देश, संस्कृति, अपने जीवन का पूरा केंद्र मानकर रह रहा है, उसे अचानक वहाँ से ज़बरदस्ती उखाड़ कर एक अपरिचित जगह पर बसने के लिए विवश करना अपने आप में एक त्रासदी है।

यह विस्थापन केवल सांस्कृतिक स्तर पर ही आदमी को नहीं उखाड़ता, उसके जीवन के सर्वप्रमुख आर्थिक आधार को भी उससे छीन लेता है। किसी व्यक्ति के जीवन का सामाजिक परिवेश तथा आर्थिक आधार ही उसके जीवन की मूल्यवान वस्तु है। उसका समाज में स्थान, व्यवसाय, उसका घर-संपत्ति, यहाँ उसे जीवन में स्थिरता व स्थायीत्व प्रदान करता है। अचानक ही एक भयानक राजनीतिक तूफान उन लोगों के जीवन की स्थिरता और स्थायीत्व को नष्ट कर देता है, उनके जीवन की धूरी, उनका आर्थिक आधार, उनसे छिन जाता है और कल के शाह आज के कंगाल में बदल जाते हैं। यह दुखांत एक परिवार के साथ नहीं, लाखों लाख व्यक्तियों और परिवारों के साथ जब घटता है तो यह ऐतिहासिक त्रासदी होती है, जो सदियों तक किसी समाज व संस्कृति पर प्रभाव डालती है, जिसका दर्द सिर्फ एक पीढ़ी नहीं, कई पीढियों को भुगतना है।

'सिक्का बदल गया है' की शाहनी भी जब कंगाल और शरणार्थी बनने की पीड़ा झेलती है तो वह सिर्फ अकेली नहीं, उसके आगे की पीढ़ियाँ भी झेलती हैं। शाहनी की पीड़ा स्वयं लेखिका कृष्णा सोबती ने भी झेली है और कृष्णा सोबती द्वारा रची रचनाओं से उत्पन्न पीड़ा से कुछ और पीढ़ियाँ भी इस दर्द से गुजरेंगी।

कृष्णा सोबती 'सिक्का बदल गया है' में भले ही सवाल सीधे नहीं उठाती कि एक देश, समाज या संस्कृति की अवधारणा क्या है, लेकिन शाहनी की अपनी ज़मीनों, हवेली और गाँव के लगाव से ज़ाहिर कर देती है कि एक सामान्य व्यक्ति के लिए उसका घर-बार, गाँव-ज़मीन, नाते-रिश्ते ही उसका देश, समाज व संस्कृति है, जो किसी के चाहने से नहीं बँटती, उसे तो राजनीतिज्ञों की सत्ता-आकांक्षा एक अप्राकृतिक हिंसा द्वारा काट डालती है और उनकी इच्छा को पूरी तरह कुचलते हुए उन्हें ज़बरदस्ती किसी आरोपित देश, समाज या संस्कृति का नागरिक बनने पर विवश कर देती है। शाहनी की त्रासदी इस मानवीय अस्तित्व की पीड़ा को संकेतित करती है।

विभाजन की त्रासदी का तीसरा मानवीय पहलू अलगाव भी 'सिक्का बदल गया है' में मर्मस्पर्शी ढंग से चित्रित हुआ है। इस अलगाव की शिकार बनती है स्वयं शाहनी। उसके पचास वर्ष के अत्यंत मानवीय लगाव भरे जीवन को कुछ घंटों में ही इतनी बर्बर मानसिक हिंसा से काट दिया जाता है कि वह अपने पचास वर्ष के जीवन से हटने की भयंकर पीड़ा केवल अलगाव द्वारा, मोह-मुक्त होकर ही झेल सकती है। पचास वर्ष और उससे भी पहले 15-20 वर्ष का अत्यंत मोह-ममता भरा जीवन और एक ही झटके में निपट अकेलापन - शाहनी के अलगाव (Alienation) की यह स्थिति अस्तित्ववाद की किसी भी परिभाषा या व्याख्या की सीमा से परे है।

एक तरफ शाहनी का मानवीय रिश्तों व अपने गाँव-ज़मीनों से अलगाव तो दूसरी ओर शेरे आदि के चरित्र में आई विकृति- उसी मानवीय अलगाव का दूसरा पहलू है। जब व्यक्ति दौलत के लालच में माँ समान स्त्री की हत्या की सोचने लगे, तब उसका मानवीयता के मूल तत्वों से ही अलगाव होने लगता है। ऐसा व्यक्ति भी अपने इस रूप में त्रासद चरित्र है, क्योंकि वह कुछ पाने के लिए जो कुछ खो रहा है, वह कहीं अधिक

मूल्यवान है। मानवीयता किसी भी दौलत से अधिक कीमती है जो वह इस स्थिति में खो देता है।

कुल मिलाकर 'सिक्का बदल गया' देश-विभाजन की त्रासद स्थितियों के मानवीय परिवेश और उसकी पीड़ा को अत्यंत सघनता से चित्रण करने वाली कहानी है, जो अपनी रचना के पचास वर्ष बाद भी उतनी ही प्रभावी व उतनी ही प्रासंगिक है, जितनी अपनी रचना-काल में थी।

26.7 सारांश

'सिक्का बदल गया' कहानी पर आधारित इकाई का अध्ययन आपने कर लिया है। विभाजन की भीषण त्रासदी पर आधारित इस कहानी में आपने इंसान के अपने परिवेश, जमीन, गाँव और घर से बेघर होने की पीड़ा को समझा है। विभाजन भारतीय समाज के जीवन में भयानक विस्फोट के रूप में प्रकट हुआ था जिससे न केवल आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ ही सामने आयी बल्कि संपूर्ण देश की व्यवस्था को झुलसा दिया था। यह एक राजनीतिक दुर्घटना नहीं थी, इससे लाखों-करोड़ों लोगों को अतीत से तोड़कर वर्तमान के अंधेरे विवर में धकेला था। जहाँ पर एक शरणार्थी की तरह जीने के लिए मजबूर लोग अपने परिवेश से पूरी तरह कट गए थे। अपनो से बिछुड़कर परायों के साथ उनकी हिकारतभरी दृष्टि को और दुर्व्यवहार को झेलते हुए अभावपूर्ण जिंदगी जीने के लिए विवश हुए थे। इसी मानवीय पीड़ा को मुखरित किया है कृष्णा सोबती की 'सिक्का बदल गया' में।

'सिक्का बदल गया' की शाहनी को भौगोलिक विभाजन के कारण अपना घर-बार, जमीन, नाते-रिश्तों को एकाएक छोड़कर परिवेश से दूर हिंदुस्तान में जाकर बसने की पीड़ा भोगना पड़ा था। हवेली और दूर-दूर तक फैली जमीन की मालकिन, कई असामियों को काम देकर उनके परिवारों का पोषण करने वाली एक समय की जमींदारीन उसे यह समझ नहीं आता कि देश का विभाजन का इंसानों को इंसानों से, उसकी जमीन, घर-बार को छोड़ने पर मजबूर करने से क्या संबंध है। सभी को चाहने वाली, प्रेम करने वाली शाहनी को शरणार्थी कैंप तक पहुँचाने आया ट्रक उसके दरवाजे पर आते ही गाँव की मुस्लिम, बड़ी बुढ़ियाँ, अन्य लोग उससे मिलने पहुँच जाते हैं। उन सब अपनो को छोड़ने की मार्मान्तक पीड़ा लेकर जब शाहनी ट्रक पर चढ़ती है तो सभी रो पड़ते हैं। सभी के मन में जैसे एक ही बात है कि वे शाहनी को नहीं रख सके। अपनी संपत्ति को छोड़ने का शाहनी को दुख नहीं था, वह उस मोह को छोड़ चुकी थी, लेकिन दुख था अपनो से बिछुड़ने का, अपनी जमीन से जुदा होने का। उसने महसूस किया था माहौल ने शेरा को भी बदल दिया, जिसे उसने अपने बच्चे की तरह पाल-पोस कर बड़ा किया था। वही शेरा दंगाइयों के साथ मिलकर हवेली को लूटने और शाहनी का कत्ल करने की योजना में शामिल हो गया था। कैंप तक पहुँचाने आए दाऊद खाँ ने शाहनी की मनःस्थिति को समझकर एक संवेदनशील इंसान की तरह कहा *"शाहनी, मन में मैल न लाना। कुछ कर सकते तो उठा न रखते। वक्त ही ऐसा है। राज पलट गया है, सिक्का बदल गया है....."*

लेकिन शाहनी के लिए सिक्का बदल जाने का, न ही हकूमत के बदल जाने का, कोई अर्थ है। उसे तो दुःख है मूल्यों के सिक्के बदल जाने का, और संबंधों को निरर्थक बना दिए जाने का। राज पलट जाने, राजनीतिक दृष्टि से सिक्का बदल जाने से मानवीय

मूल्य भी निरर्थक सिद्ध हो गये, यही उसकी अंतर्वेदना है। यही कहानी अंतर्द्वंद्व, करुणा और व्यंग्य को बहुत सुलझे रूप में अभिव्यक्त करती है। साथ ही समसामयिक संदर्भों की तल्खी से संबंधों और मूल्यों में जो विघटन उपस्थित हुआ, उसका बोध यह कहानी कराती है।

इस इकाई में आपने कृष्णा सोबती की विभाजन की मानवीय पीड़ा को अभिव्यक्त करने वाली कहानी 'सिक्का बदल गया है' पर विचार किया है। इस कहानी में शाहनी के चरित्र द्वारा व विभाजन के दिनों के परिवेश के अंकन द्वारा लेखिका ने विभाजन की मानवीय पीड़ा के विभिन्न पहलुओं - सांप्रदायिक दंगे, विस्थापन और शरणार्थी होने के दर्द के साथ ही मानवीय अलगाव की स्थितियों को भी चित्रित किया है।

26.8 प्रश्न/अभ्यास

1. 'सिक्का बदल गया' कहानी के कथा-सूत्र को बताते हुए इसका कथ्य स्पष्ट करें।
2. 'सिक्का बदल गया' के कथ्य में ही उसका उद्देश्य भी निहित है। इस कथन पर विचार करें।
3. 'सिक्का बदल गया' में शाहनी के चरित्र के माध्यम से लेखिका ने विभाजन की पीड़ा को अभिव्यक्त किया है। इस कथन की सोदाहरण व्याख्या करें।
4. 'सिक्का बदल गया' के परिवेश द्वारा लेखिका ने टूटते मानवीय मूल्यों के मर्म को प्रस्तुत किया है। इस कथन पर टिप्पणी करें।
5. 'सिक्का बदल गया' में विभाजन के लिए जिम्मेदार राजनीतिक सत्ता लोलुप प्रवृत्ति पर प्रकाश डालिए।

उपयोगी पुस्तकें

1. प्रतिनिधि हिंदी उपन्यास (भाग - II) - डॉ. चमन लाल (जिंदगीनामा, शीर्षक अध्याय)
2. कृष्णा सोबती, 'बादलों के घेरे' (कहानी संग्रह), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
3. हिंदी कहानी : अस्मिता की तलाश - मधुरेश, आधार प्रकाशन प्रा.लि., पंचकुला, हरियाणा
4. कहानी : अनुभव और अभिव्यक्ति - राजेन्द्र यादव, वाणी प्रकाशन, दिल्ली

इकाई 27 यह अंत नहीं : ओमप्रकाश वाल्मीकि

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य
27.1 प्रस्तावना
27.2 दलित साहित्य - आंदोलन का उद्‌भव एवं विकास
  27.2.1 दलित आंदोलन और दलित साहित्य का संबंध
  27.2.2 दलित साहित्य आंदोलन का उद्‌भव
  27.2.3 दलित साहित्य, नामकरण और स्वरूप
27.3 हिंदी साहित्य : दलित कहानी का विकास
27.4 दलित चेतंना का विकास : 'यह अंत नहीं'
27.5 दलिंत स्त्री अस्मिता का संघर्ष
27.6 पुलिस और पंचायत राज का जातिवादी चरित्र
27.7 सारांश
27.8 प्रश्न / अभ्यास
कुछ उपयोगी पुस्तकें

27.0 उद्देश्य

समकालीन कहानी के खंड छह की यह छठी इकाई दलित रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'यह अंत नही' कहानी पर आधारित हैं। इस कहानी के माध्यम से आप हिंदी में दलित साहित्य के उद्‌भव और विकास के साथ-साथ हिंदी साहित्य में दलित साहित्य के अंतर्गत दलित कहानी के योगदान को समझ सकेंगे। भारतीय समाज के सबसे उपेक्षित और वंचित दलित वर्ग के जीवन सरोकारों को मानवीय दृष्टिकोण से जानने का प्रयास कर सकेंगे। सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय के लिए प्रतिबद्ध साहित्य की पहचान भी आप कर पाएंगे। आइए अब इस इकाई का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें। इसके अध्ययन के बाद आप :

- भारतीय समाजव्यवस्था के जातिआधारित स्वरूप, जातिगत भेदभाव और गैरबराबरी को जन्म देने वाली धार्मिक तथा ब्राह्मणवादी प्रवृत्तियों को समझ सकेंगे;
- सामाजिक परिवर्तन तथा न्याय के लिए डॉ. आंबेडकर द्वारा चलाए गए सामाजिक आंदोलन की साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में दलित साहित्य के उद्‌भव और विकास से अवगत हो सकेंगे;
- 'यह अंत नही' कहानी में प्रकट रूप से छेड़े गए जातिसंघर्ष की वास्तविकता और इसकी जरूरत को 'बिरमा' के अस्मिता के संघर्ष द्वारा समझ सकेंगे;
- शिक्षित दलित युवा पीढ़ी पुरानी पीढ़ी की तरह जातिवादी सवर्णों के दबाव को और शोषण को अधिक न सहते हुए परिवर्तन के प्रति प्रतिबद्ध होकर संघर्षशील है, और इस सांस्कृतिक, सामाजिक क्रांतिकारी बदलाव के पीछे के कारणों से भी परिचित हो सकेंगे;
- भारतीय राज्यतंत्र और पंचायती राज के जातिवादी स्वरूप को गहराई से समझ सकेंगे;

आइए यह 27वीं इकाई आपके समक्ष है। इसका ध्यानपूर्वक गंभीरता से अध्ययन करें....

27.1 प्रस्तावना

हिंदी साहित्य में अपनी सशक्त रचनाओं के योगदान से दलित विमर्श की दस्तक देने वाले ओमप्रकाश वाल्मीकि हिंदी दलित साहित्य के अग्रणी लेखक है। उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरपुर जिले के बरला गाँव के दलित परिवार में जन्मे (30 जून, 1950) ओमप्रकाश वाल्मीकि की अभी तक प्रकाशित रचनाएँ हैं - 'सदियों का संताप' (काव्य संग्रह), 'बस बहुत हो चुका' (कविता संग्रह), 'जूठन' (आत्मकथा) और 'सलाम' (कहानी संग्रह)।

भारत सरकार के रक्षा मंत्रालय के उत्पादक विभाग के संस्थान में सेवारत ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित जीवन की व्यथा, छटपटाहट, सरोकारों को अपनी कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्ति दे रहे हैं। यह उनके दलित जीवन के अनुभवों की अभिव्यक्ति है, जो एक ऐसे यथार्थ से साक्षात्कार कराती है, जो हजारों सालों तक रचनाकारों की रचना का विषय ही नहीं बना। ऐसी उफनती पीड़ा, अंधेरे कोनों में व्याप्त वेदना, अपमानित जीवन का संत्रास, दारुण गरीबी, विवशता दीनहीन होने की वेदना को ओमप्रकाश वाल्मीकि ने रचनात्मक अभिव्यक्ति दी है। साथ ही दबे कुचले शोषित पीड़ित जन समूह की अस्मिता को मुखर करके सामाजिक विसंगतियों पर चोट की है।

'दूसरी दुनिया के यथार्थ' में छपी उनकी कहानी 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' के आत्मकथ्य में ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी रचनात्मक प्रतिबद्धता के बारे में लिखते हैं 'मेरे सामने वे तमाम लोग प्रश्न चिह्न बन कर खड़े हैं, जो मेहनतकश हैं, शोषित, पीड़ित और दलित हैं, जिन्होंने भारतीय समाज-व्यवस्था का निकृष्टतम रूप चक्रवाती झंझावातों की तरह सहा है। उनकी बेबस चीखों ने मुझे हमेशा झिंझोड़ा है। कहानी हो या कविता, मैं अपने ही शब्दों से क्षत-विक्षत हुआ हूँ। हिंदी साहित्य की सामंती ब्राह्मणवादी प्रवृत्तियों ने जिन विषयों को त्याज्य माना, जिन्हें अनदेखा किया उन पर लिखना मेरी प्रतिबद्धता है।' ओमप्रकाश वाल्मीकि में अनेक प्रतिभाएँ छिपी हैं, रचनाकार के साथ-साथ वे एक रंगमंच कलाकार और निर्देशक भी हैं। अब तक साठ नाटकों में वे अभिनय और निर्देशन कर चुके हैं। अनेक पुरस्कारों से सम्मानित यह लेखक मीडिया की चकाचौंध से अपने को बचाएँ रखते हुए अनवरत लेखनकार्य में जुटा है। 'जूठन' इनकी आत्मकथा है जिसमें स्वयं के दलित जीवन की सच्चाइयों को बेबाक होकर अतीशय प्रामाणिकता के साथ अभिव्यक्त किया है। इसकी रचना के समय की अनुभूति के बारे में वे लिखते हैं 'इन अनुभवों को लिखने में कई प्रकार के खतरे थे। एक लम्बी जद्दोजहद के बाद, मैंने सिलसिलेवार लिखना शुरू किया। तमाम कष्टों, यातनाओं, उपेक्षाओं, प्रताड़नाओं को एक बार फिर जीना पड़ा, उस दौरान गहरी मानसिक यंत्रणाएँ मैंने भोगी। स्वयं को परत-दर-परत उधेड़ते हुए कई बार लगा कितना दुःखदायी है यह सब! कुछ लोगों को यह अविश्वसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है।' वे आगे लिखते हैं

''दलित जीवन की पीड़ाएँ असहनीय और अनुभवदग्ध हैं। ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके। एक ऐसी समाज-व्यवस्था में हमने साँसें ली हैं, जो बेहद क्रूर और अमानवीय है। दलितों के प्रति असंवेदनशील भी.....''

ओमप्रकाश वाल्मीकि के इस कथन में न केवल एक व्यक्ति विशेष की बल्कि संपूर्ण दलित समाज की विवशता, व्यथा और मानसिक त्रास की सच्चाई व्यक्त हो रही हैं। यहाँ केवल एक कहानीकार ही नहीं सामाजिक प्रतिबद्धता के निर्वाह के लिए कटिबद्ध

ऐक्टिविस्ट भी नजर आता है। प्रस्तुत इकाई इनकी 'यह अंत नहीं' कहानी पर आधारित है। जिसमें दलित जीवन की त्रासदी के साथ-साथ, दलित चेतना के विकास और संघर्ष के द्वारा अपने अस्तित्व और अस्मिता को बचाने के लिए कटिबद्ध दलित युवा पीढ़ी के प्रयासों को रचनात्मक धरातल पर उतारा गया है। दलित स्त्री के प्रति कथित सवर्ण पुरुषों के हीन दृष्टिकौण और शोषण की प्रवृत्ति को यह कहानी उजागर करती है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कुछ महत्वपूर्ण कहानियों में 'सलाम', 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ', 'बिरम की बहू', 'अम्मा' बहुत सशक्त दलित कहानियाँ हैं। समकालीन हिंदी कहानी में दलित चेतना की दस्तक देने वाले कथाकार की ये कहानियाँ अपने आप में विशिष्ट हैं। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप स्वयं ही यह समझ जायेंगे कि यह दलित कहानी आपके समक्ष समाज के एक ऐसे हिस्से की त्रासदी को उजागर करती है जो समाज का अनिवार्य हिस्सा होते हुए भी कथित आभिजात्य वर्ग ने उन्हें जानवरों से भी बद्तर मानकर बहिष्कृत किया। इनके जीवन को दुःख, वेदना, अवहेलना, अपमान का पर्याय बनाकर समाज की मुख्य धारा से अलग रखा। अन्याय-अत्याचार, शोषण के द्वारा इस दलित समाज को गुलाम बनाए रखा, देश की संपत्ति, संसाधनों से वंचित रखकर, अभाव-दरिद्रता का जीवन जीने के लिए मजबूर किया। उत्पादन के किसी भी साधन पर के अधिकार से वंचित रखा गया। यह वही दलित समुदाय है, जो हजारों वर्षों की गुलामी के बाद चेतनशील होकर अपने मानव अधिकारों की माँग कर रहा है। साहित्यिक सृजन के द्वारा शोषण की संस्थाओं के विरोध में मोर्चा लिए खड़ा है। इस साहित्यिक आंदोलन के उद्भव और विकास को जाने बगैर हम दलित साहित्य के आविर्भाव को समझ नहीं सकेंगे। आइए हम दलित साहित्य आंदोलन को समझने का प्रयास करें।

27.2 दलित साहित्य - आंदोलन का उद्भव एवं विकास

साहित्य के क्षेत्र में नई चेतना का जन्म सामाजिक, सांस्कृतिक अभिसरण के फलस्वरूप होता है। हर बार यही देखा गया है कि समाज में होने वाले परिवर्तनों का सही रूप साहित्य में प्रकट होता है। 'दलित साहित्य' मराठी साहित्य में सामाजिक परिवर्तन की माँग को लेकर प्रस्तुत हुआ है। मनुष्य की एक नई पहचान कराने वाले साहित्य के रूप में दलित साहित्य उभरा है। दलित साहित्य के बारे में कमलेश्वर ने कहा था

''जिस देश की आधी मानवता अपमान से पीड़ित हो, उस देश में स्वाभिमान से यह कह सकने वाला साहित्य कि हम अपमान पीड़ित मानवता के लिए अपने को समर्पित करते हैं, मराठी के दलित साहित्य के अलावा दूसरा नहीं है।''

भारतीय समाज के एक बहुत बड़े हिस्से को समाज ने हमेशा दुत्कारकर अपमानित किया और मनुष्य होकर भी उसके साथ पशु से बद्तर व्यवहार किया है। यह अहसास वेदनामय है और यह वेदना एक व्यक्ति की नहीं पूरे दलित वर्ग की है। इस वेदना की रचनात्मक अभिव्यक्ति ही दलित साहित्य है। इस दृष्टि से इसे एक महत्वपूर्ण सामाजिक घटना मानना चाहिए। 'दलित साहित्य की निर्मिति सामाजिक परिवर्तन का ही परिणाम है, और सामाजिक परिवर्तन की दिशा में प्रेरित संवेदनात्मक मन की अभिव्यक्ति भी है।' सबसे पहले परिवर्तन की आकांक्षा का यह स्वर मराठी के दलित साहित्य में प्रस्फुटित हुआ। यह दलित साहित्य का प्रथम स्वर था। 'दलित साहित्य' का उद्भव मराठी साहित्य में एक साहित्यिक सामाजिक विद्रोह के रूप में हुआ है जिसके माध्यम से

दलित, शोषित समाज में धधक रहे विद्रोह, आक्रोश का यह रूप मुखरित हुआ है। सदियों से अछूत की जिंदगी जी रहे वंचितों को हिन्दू धर्म वर्ण व्यवस्था ने वह स्थान दिया जो गांवों, नगरों के अहातों से दूर था और जहाँ केवल अंधकार ही अंधकार था। इस चेतनहीन समाज की सोयी हुई आत्मा को डॉ. आंबेडकर ने जगाया। और वह मनुष्य अपने सामर्थ्य के साथ और साहित्य के साथ इस आंदोलन में शामिल हुआ।

दलित साहित्य में व्यक्त होने वाला अनुभव मौलिक अनुभव है। इस अनुभव की मुख्य प्रेरणा है स्वतंत्रता। स्वतंत्रता के महत्व को दलितों ने तब जाना जब उन्होंने हिन्दू धर्म का त्याग कर बुद्ध धर्म को स्वीकार किया। डॉ. आम्बेडकर के धर्मान्तर के बाद के इन उद्‌गारों से यह पता चलता है कि दलित उस समय कैसा अनुभव कर रहे थे।

"विषमता और जुल्मों पर आधारित पुराणपंथी धर्म का त्याग करने से मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे मैंने नरक तुल्य जीवन से छुटकारा पा लिया है और मेरा पुनर्जन्म हुआ है।"

इसी नया जन्म होने और स्वतंत्रता के अहसास की अभिव्यक्ति दलित साहित्य में हुई है। आज हम देखते हैं कि दलित साहित्य आंदोलन द्वारा अभिव्यक्त विद्रोह की भावना एवं स्वतंत्र चेतना का विस्फोट साहित्यिक, राजनीतिक और वैचारिक स्तर पर हो रहा है। यही कारण है कि भारत की दलित युवा पीढ़ी की तरफ तथा उनकी प्रेरक विचारधारा, राजनीतिक आंदोलन और साहित्यिक अभिव्यक्ति की ओर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सभी का ध्यान आकर्षित हुआ है। 'दलित साहित्य' उस विद्रोह का उन्मेष है जो किसी विशिष्ट जाति या व्यक्ति के विरुद्ध नहीं बल्कि 'स्व' की खोज में निकले हुए एक पूरे समाज का पूर्व परंपराओं से विद्रोह एवं अपने अस्तित्व की स्थापना का प्रयास है।

दलित साहित्य के विचारक, चिंतक और लेखक डॉ. ताराचंद्र खांडेकर के अनुसार 'दलित साहित्य केवल विद्रोह' प्रतिकार या प्रतिशोध नहीं है, या केवल नकार या निषेध नहीं है। बल्कि जो कुछ मंगल और शुभ है उन सबकी निर्मिति के लिए यह पूर्व परंपराओं से विद्रोह है। यह विद्रोह हिन्दू धर्म पर आधारित परंपराओं, रूढ़ियों और विचारों से है और उस समाज के विरुद्ध जिसने उन्हें पद्‌दलित, शूद्र और अस्पृश्य नाम देकर अन्याय, अत्याचारों के द्वारा अपने मन में छिपी बर्बरता का पूरा-पूरा परिचय दिया। यह कहना उचित होगा कि 'विद्रोह ही दलित साहित्य का मूलधर्म और उसकी विशिष्टता है।' डा. म.ना.वानखडे ने दलित साहित्य के बारे में कहा है - 'दलित साहित्य का अर्थ है दलित लेखकों ने दलितों के बारे में लिखा हुआ प्रक्षोभक विद्रोही साहित्य। इसका अर्थ यह नहीं कि उसे समाज से विभक्त होना है बल्कि समाज में रहकर ही उस विद्रोह को प्रकट करना है। वह समाज से दया की भीख नहीं माँग रहा है, वह उन पर आग बरसाना चाहता है। यह फूट डालने वाली नीति नहीं है, यह असल में, ढोंग, अन्याय के खिलाफ उठी आवाज और समाज को एक दूसरे से जोड़ने वाली प्रवृत्ति है।'

दलित साहित्य का 'केन्द्र स्थान' 'मनुष्य' है। धर्म की साजिश द्वारा छीनी हुई प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त करने के लिए यह साहित्य प्रतिबद्ध है। यह उसे सम्यक् क्रांति की तरफ ले जाना चाहता है। क्योंकि साहित्य समाज चेतना का ऐसा माध्यम है जो समाज की वास्तविकता को रचना के माध्यम से समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है। 'ज्या-पाल-सार्त्र' ने इस विषय में कहा है - 'लेखन केवल लेखन नहीं है वह कृति है, दुष्ट प्रवृत्तियों के विरुद्ध मनुष्य का जो सतत संघर्ष चल रहा है, उस संघर्ष में लेखन को

एक हथियार के समान उपयोग में लाने की जरूरत को लेखक वर्ग समझे।' लेखन के महत्व को दलित लेखक अच्छी तरह जान चुके हैं और इस विषम समाजव्यवस्था के खिलाफ वे इस हथियार का सही अर्थों में उपयोग भी कर रहे हैं। (जां-पाल-सार्त्र-ह्वाट इज लिटरेचर, पृ. 233)

दलित चेतना की पूर्व परंपरा और मराठी दलित कविता

दलित साहित्य का उद्‌भव कुछ लोग बुद्ध काल में खोजते हैं, कुछ संतवाङ्मय में (मध्यकालीन भक्ति साहित्य में) तो कुछ क्रांति वीर महात्मा फुले के विचार और साहित्य में। इस बात को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता कि इन सभी ने विषम समाज व्यवस्था का विरोध किया है, दलितों पर होने वाले अन्याय, अत्याचारों को अपनी लेखनी से वाणी दी है, 'बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय' का संदेश महात्मा बुद्ध और महात्मा फुले के विचारों में हम पाते हैं। परंतु दलित साहित्य का प्रेरणास्रोत डॉ. बाबा आंबेडकर के विचार और उनकी जीवन दृष्टि में है और दलित मुक्ति के उद्देश्य से शुरू किए गए मुक्ति आंदोलन में है। उनकी इस विचारधारा और जीवन दृष्टि पर महात्मा बुद्ध और महात्मा फुले के विचारों का गहरा प्रभाव है जिसे उन्होंने विरासत के रूप में ग्रहण किया। दलित साहित्य का उद्‌गम जानने के लिए मराठी साहित्य की सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि को देखना आवश्यक है क्योंकि दलित साहित्य का उद्‌भव एवं विकास सर्वप्रथम मराठी साहित्य में ही हुआ है।

मध्यकाल के बाद दलितों के प्रश्नों पर और अस्पृश्यता जैसी निघृण प्रथा के विरोध में साहित्य के अंतर्गत चर्चा 19वीं सदी में प्रारंभ होती है। अंग्रेजी शासन काल में अंग्रेजी शिक्षा के कारण नई चेतना के निर्माण से हिंदू धर्म पर आधारित चातुर्वर्ण्य समाज व्यवस्था पर पुनर्विचार होने लगा। हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू समाज में स्थित बुराइयों के मूल की खोज करने का प्रयास बाल शास्त्री जांभेकर, म. ज्योतिबाफुले जैसे अनेक विचारकों ने किया है। 1818 से 1860 तक के काल में इस प्रकार का योजनाबद्ध प्रयास हुआ है। हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू समाज में अस्पृश्यता की इस महाभयंकर प्रथा के बीज कब और केसे बोएं गए इसकी खोज का प्रयत्न कुछ समाज-सुधारकों और प्रगतिशील विचारकों द्वारा हुआ है। 'दर्पण' नाम से प्रसिद्ध होने वाली बालशास्त्री जांभेकर द्वारा संपादित पत्रिका के प्रथम अंक में (सन् 16 मार्च 1832) यह चर्चा शुरू हुई कि 'संपूर्ण मानवजाति एक होते हुए उनमें जाति के नाम पर भेद क्यों है।' 'प्रभाकर' नाम की पत्रिका में एक नेटिव्ह ने यह प्रश्न उठाया था कि अगर अंग्रेज अस्पृश्यों को अपने घर में नौकर रख सकते हैं और छुआछूत न मानकर वे उन्हें स्पर्श करते हैं, तो सवर्ण हिन्दुओं को ही अस्पृश्यों से नफरत क्यों है, जबकि वे अंग्रेजों तक का आदर सम्मान करते हैं।4 इस तरह की चर्चाओं से यह प्रतीत होता है कि समाज प्रबोधन का कार्य तब शुरू हो गया था। कुछ लोग अस्पृश्यता निवारण के कार्य में संलग्न थे। तुकाराम तात्या पडवल लिखित 'जातिभेद विवेक सार' नामक पुस्तक में 'विषमतापूर्ण समाज व्यवस्था का कारण दुष्ट जाति भेद ही बताया गया है।' लोकहितवादी, महात्मा फुले आदि समाज सुधारकों ने ऊँच नीच की भावना को मिटाने का प्रयास किया। अस्पृश्यों के मन में आत्म विश्वास जगाने का कार्य किया और पारंपरिक रूढिवादिता की लेखन के द्वारा आलोचना की। 'सत्यधर्म' की स्थापना के लिए म. फुले ने सत्यशोधक आंदोलन का प्रारंभ 23.9.1873 में किया था। इस आंदोलन की प्रेरणा से प्रेरित होकर गोपाल बुवा कृष्णा वलंगकर ने सन् 1896 में सेना से अवकाश प्राप्त होने के बाद 'अनार्यदोष परिहार' नामक संस्था की स्थापना की और 'विटालविध्वंसक'(अस्पृश्यता विध्वंसन) नाम की पत्रिका का संपादन किया। शिवराम जानबा कांबले द्वारा 'सोमवंशीय मित्र' पत्रिका का प्रकाशन किया गया। इन सभी

पत्रिकाओं के माध्यम से अस्पृश्य समाज को जागृत करने का और उन्हें अपने खोए हुए स्वाभिमान और अस्मिता को फिर से प्राप्त करने की प्रेरणा दी गई।

एक ओर पत्र-पत्रिकाओं द्वारा इस तरह दलित समाज में चेतना जगाने के प्रयत्न हो रहे थे तो दूसरी ओर सामाजिक स्पर पर भी कुछ सुधारकों की तरफ से प्रयत्न जारी थे। जिनमें प्रमुख रूप से प्रयत्न करने वालों में महर्षि विठ्ठल रामजी शिंदे थे। उन्होंने 'अखिल भारतीय डिप्रेस्ड क्लास मिशन' की स्थापना कर इस मिशन द्वारा अस्पृश्यों के प्रश्नों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उधर राजर्षि शाहूमहाराज ने कोल्हापुर संस्थान में अपनी राजसत्ता के काल में अस्पृश्यता निवारण कार्य को धर्म कार्य जैसा महत्व देकर अनेक कानून जारी किए। अखिल भारतीय बहिष्कृत समाज परिषद (नागपुर में 30 मई, 1920 को हुए) सम्मेलन के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए उन्होंने कहा था - 'तुम अस्पृश्य नहीं हो, तुम्हें अस्पृश्य मानने वाले लोगों से तुम अधिक बुद्धिमान, पराक्रमी स्वाभिमानी हो और हिन्दू राष्ट्र की इकाई हो।'

सन् 1920 तक समाज में इस तरह की चेतना जगाने के प्रयत्न निरंतर हो रहे थे कि मानव होने के नाते मानव अधिकारों को प्राप्त करने का दलितों को अधिकार है। जाति-पाति और ऊँच-नीच के भेदभाव को नष्ट करने पर जोर दिया जा रहा था। इन विचारों का प्रभाव तत्कालीन मराठी के कुछ लेखकों की कृतियों में यदा-कदा देखने को मिलता है।

27.2.1 दलित आंदोलन और दलित साहित्य का संबंध

अस्पृश्यता निवारण और बहुजनसमाज के हित के लिए संपूर्ण जीवन भर कार्य करने वाले महात्मा ज्योतिबा फुले इस सामाजिक आंदोलन के नेता थे। उन्होंने सामाजिक विषमता के खिलाफ संघर्ष करने हेतु 'सत्यशोधक आंदोलन' का नेतृत्व किया। जातिभेद और धर्मभेद की आलोचना करते हुए उन्होंने मानव समानता का प्रचार किया। उपलब्ध सभी साधनों द्वारा उन्होंने ब्राह्मणवाद को नष्ट करने की नीति को अपनाया। उनके सत्यशोधक आंदोलन का मुख्य कार्य था - सामाजिक विषमता को नष्ट करना, ईश्वर और भक्त के बीच के दलालों को नष्ट करना, सभी के लिए शिक्षा के द्वार खोलना। इस चार सूत्री कार्यक्रम को लेकर उनका आंदोलन आगे बढ़ रहा था। केवल विचारों में क्रांति लाने का ही कार्य वे नहीं कर रहे थे वरन् अपने विचारों को उन्होंने व्यावहारिक रूप में परिणत करने का प्रयत्न किया। सन् 1851 में लड़कियों के लिए और सन् 1852 में अछूतों के लिए पाठशालाएं शुरू की थी जिसके कारण उन्हें समाज और जाति से बहिष्कृत कर दिया गया। लेकिन अनेक कष्ट झेलकर जीवन के अंत तक वे अपने कार्य को पूरा करने हेतु संघर्ष करते रहे।

उनके यही कार्य और विचार डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर के प्रेरणास्रोत बने। उन्होंने कबीर, बुद्ध और महात्मा फुले को अपना गुरू माना है। 'महात्मा फुले एक संघर्षशील नेता ओर चातुर्वर्ण्य तथा जातिभेद पर कठोर प्रहार करके मानवीय समानता की घोषणा करने वाले प्रथम लोक नेता थे।'

स्वातंत्र्योत्तर काल में इस आंदोलन को जो खास दलित व्यक्तित्व प्राप्त हुआ है उसके कारणों की और उसके प्रेरणा स्रोत की खोज करना जरूरी है। उसका मूल स्रोत डॉ. आंबेडकर के विचार, तत्वज्ञान और संघर्षशील नेतृत्व में है। दलित आंदोलन ने डॉ. आंबेडकर की विचारधारा को पूर्णतः आत्मसात किया है।

डॉ. आंबेडकर ने बुद्ध धर्म को स्वीकार करके बुद्ध धर्म के मूल तीन तत्व स्वतंत्रता, समता और न्याय प्राप्ति को संघर्ष का मुद्दा बनाते हुए दलित मुक्ति आंदोलन को सक्रिय बनाया। 'समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व का अवलंबन करने वाली नई समाज रचना का निर्माण करने के लिए परंपराओं से बंधी हुई जीर्ण वर्ण व्यवस्था की कठोर आलोचना की। जिस हिन्दू धर्म और जातिप्रथा ने अंधकारमय जीवन जीने पर दलितों को मजबूर किया और सत्ता, संपत्ति, शिक्षा से वंचित रखा। ऐसे धर्म और विचारधारा के खिलाफ उन्होंने आंदोलन छेड़ा। समय-समय पर दिए गए अपने भाषणों के द्वारा और दलित वर्ग की पत्रिकाओं द्वारा क्रांतिकारी विचार वे दलितों के समक्ष रखते रहे। उनकी इस विचारधारा में वह शक्ति थी जिसे पाकर अपना अस्तित्व खोए मरणासन्न अवस्था में पड़े हुए समाज में जीवन का संचार हुआ और जातिमुक्त होकर स्वाभिमानपूर्ण स्वतंत्र जीवन जीने की अदम्य लालसा उनमें जाग उठी।' इसी चेतना का विकास दलित साहित्य में हुआ। डॉ. आंबेडकर के विचारों की प्रखरशक्ति पाकर दलित साहित्य आंदोलन (दलित मुक्ति आंदोलन का ही एक हिस्सा) प्रगति की दिशा में आगे बढ़ रहा है।

तेरहवीं सदी में संत वांड्मय के द्वारा उभरा हुआ आक्रोश और वेदना का स्वर ब्राह्मणवादी वर्णव्यवस्था के दबाव में दब गया था। परंतु दलित साहित्य आंदोलन द्वारा उभरने वाला विद्रोही स्वर किसी भी शोषक शक्ति के सामने झुकनेवाला और दबनेवाला स्वर नहीं था। दलित साहित्य ऐसे अनोखे अनुभव-विश्व की रचनात्मक अभिव्यक्ति है, जिसे मजबूरन अछूतों ने सदियों तक भोगा है।

दलित मुक्ति आंदोलन की शुरूआत को डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर द्वारा 24 दिसंबर, 1927 को मनुस्मृति के दहन और दलित मुक्ति संग्राम से जोड़कर देखना जरूरी है। मनुस्मृति दहन के द्वारा मनु निर्मित हिन्दू धर्म की विषम समाज रचना और मूलभूत ब्राह्मणवादी विचारधारा के प्रति विरोध प्रकट किया था। उन्होंने 'महाड़' के चवदार तालाब के सत्याग्रह द्वारा छुआछूत और अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष किया और मानव अधिकारों की प्राप्ति के लिए दलित समाज को जागृत किया। मानव अधिकारों की प्राप्ति के इस तरह के क्रांतिकारी कदम का सवर्ण वर्ग की ओर से जोरदार विरोध किया गया। उनकी पुरोहितवादी सनातनी मानसिकता को इससे धक्का लगा। नासिक का प्रसिद्ध 'कालाराम मंदिर-प्रवेश सत्याग्रह' इसी संघर्ष की अगली कड़ी थी। इन क्रांतिकारी घटनाओं से डॉ. बाबा साहेब दलित मुक्ति संग्राम की शक्ति बढ़ा रहे थे। छीने गए अधिकारों को पाने के लिए उन्होंने सत्याग्रह का रास्ता अपनाया और राजनीतिक अधिकारों के लिए ब्रिटिश गवर्नमेंट से टक्कर ली। सन् 1930 में लंदन में हुई पहली भारतीय गोलमेज परिषद् में डॉ. बाबासाहेब भारतीय दलितों के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित थे। इस सम्मेलन में अछूतों के साथ सदियों से हो रहे अन्याय को दूर करके उन्हें सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार देकर सभी के साथ बराबरी तक पहुँचाने के लिए दलितों के अधिकारों की और साथ ही पृथक निर्वाचन की भी माँग की थी। जिसे ब्रिटिश सरकार ने मान्यता दी, परंतु महात्मा गांधी ने स्वतंत्र पृथक निर्वाचन की माँग के विरुद्ध आमरण अनशन किया। परिणामस्वरूप गांधी-आंबेडकर विवाद ने उग्र रूप धारण किया। दलितों को मिलने वाले इस राजनीतिक अधिकारों से गांधी जी डर गए थे। वे चहाते थे कि इस देश के दलित, हिन्दुओं की ही इकाई रहे, अन्यथा हिंदू बहुसंख्यक से घटकर अल्पसंख्यक होने की संभावना है।

संपूर्ण देश में डॉ. आंबेडकर के खिलाफ रोष व्यक्त होने लगा। अंत में गांधी की जिद्द और उनकी बिगड़गी दशा को देखकर डॉ. आंबेडकर को इस राजनीतिक अधिकारों को छोड़ना पड़ा था। केवल विधानसभा में और सरकारी नौकरियों में आरक्षण की सुविधाएँ

मिली। 'गांधी जी का अस्पृश्यता निवारण का अभियान भूतदया और सहानुभूति की भावना से जन्मा था। इसलिए गांधी जी अस्पृश्यता-निवारण के लिए क्रांतिकारी भूमिका नहीं निभा सके। इस अपमानजनक अनुभव से डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर का हृदय आक्रोश से भर उठा था।' हिन्दू धर्मावलंबियों की मानसिकता को वे अच्छी तरह जान चुके थे। अतः दलित समाज को तथा-कथित उच्चवर्णियों की गुलामी से मुक्त करके स्वतंत्र व्यक्तित्व देने के लिए अक्तूबर सन् 1935 में 'येवले' गाँव में उन्होंने दलितों के साथ अन्य धर्म में धर्मान्तर करने की घोषण की। उन्होंने कहा था 'मैंने हिन्दू धर्म में जन्म लिया है, परन्तु मैं हिन्दू रहकर मरना नहीं चाहूँगा।'

श्री मधु लिमये ने डॉ. आंबेडकर की धर्म परिवर्तन की घोषणा के कारणों को स्पष्ट करते हुए कहा है 'डॉ. आंबेडकर ने कहा था कि अनुसूचित जातियों के साथ इसीलिए भयानक दुर्व्यवहार किया जाता है क्योंकि वे अपने को हिन्दू कहती हैं। अगर वे किसी और धर्म की सदस्य होती तो किसी में भी उन्हें अस्पृश्य का दर्जा देने का साहस न होता। अतः उन्होंने अनुसूचित जातियों के लोगों से कहा कि वे किसी भी ऐसे धर्म को चुन लें जो उन्हें 'समान व्यवहार और प्रतिष्ठा' दे सके।'

27.2.2 दलित साहित्य आंदोलन का उद्‌भव

शिक्षा के महत्व को समझकर डॉ. आंबेडकर ने सन् 1945 में बंबई में 'पीपुल्स एज्युकेशन सोसाइटी' की स्थापना की, जिसके अंतर्गत बंबई में 'सिद्धार्थ' कालेज और औरंगाबाद में 'मिलिंद' कालेज की स्थापना हुई। ये दोनों ही शिक्षा संस्थान डॉ. आंबेडकर की विचारधारा को आगे बढ़ाने वाले दो महत्वपूर्ण केंद्र बन गए। डॉ. आंबेडकर की मृत्यु के बाद दलित मुक्ति आंदोलन की बागडोर इन शिक्षा केंद्रों में शिक्षित दलित युवकों ने संभाली।

सन् 1966 में सिद्धार्थ साहित्य संघ नामक साहित्य संस्था की स्थापना हुई जो बाद में बदल कर महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ हो गया। इस संघ की स्थापना के बाद दलित साहित्य के सृजन और उसके प्रकाशन में तीव्रता आई। ये रचनाएँ रिपब्लिकन पार्टी द्वारा प्रकाशित 'जनता', ' प्रबुद्ध भारत', 'बहिष्कृत भारत', 'मूकनायक' आदि समाचार पत्रों तथा अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी। इस पृष्ठभूमि में 'महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ' ने दलित लेखकों का प्रथम सम्मेलन 2 मार्च 1958 को मोरबाग, दादर बंबई में बंगाली हाई स्कूल के हॉल में आयोजित किया। इसके अंतर्गत ही 'दलित वर्गातील वांड्मयाचा दृष्टिकोण काय असावा।' (दलित साहित्य की दृष्टि क्या होनी चाहिए) विषय पर एक निबंध प्रतियोगिता भी आयोजित की गई थी।

दलित साहित्य सम्मेलन की आवश्यकता के बारे में बन्धुमाधव ने प्रबुद्ध भारत में लिखा - जिस प्रकार लेनिन के क्रांतिकारी विचारों का रूसी लेखकों ने अपनी रचनाओं द्वारा प्रचार करके रशियन क्रांति की मदद की थी, उसी प्रकार डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर के विचारों को गाँव-गाँव तक पहुँचाने का कार्य दलित साहित्यकारों का है।

इस सम्मेलन के अवसर पर 'प्रबुद्ध भारत' का विशेषांक निकला जिसके संपादकीय लेख में दलित साहित्य की व्याख्या इस प्रकार की गई 'इस विषम समाजव्यवस्था के विरुद्ध दलित समाज का संघर्ष निरंतर चलता रहेगा और इस संघर्ष का इतिहास ही दलित साहित्य होगा।' इस सम्मेलन में यह माँग की गई थी कि 'दलित साहित्य को मराठी भाषा तथा साहित्य में, साहित्य के एक प्रभाग के रूप में सम्मिलित किया जाए। इस

साहित्य के सांस्कृतिक महत्व को समझकर साहित्य संघ ओर विश्वविद्यालयों द्वारा उचित सम्मान दिया जाए।'

दलित लेखकों के इस प्रथम सम्मेलन से दलित साहित्य के आंदोलन को एक ठोस आधार मिला। इस सम्मेलन की चर्चा 'दैनिक मराठा' समाचारपत्र के अतिरिक्त और किसी भी समाचार पत्र ने नहीं की। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले महत्वपूर्ण लेखक थे - घनश्याम तलवटकर, कॉ. आर.बी.मोरे, दिनेश लखमापूरकर, टी.पी. अडसूल, राम उपशाम, जनार्दन बाघमारे, अण्णा रणपिसे, दादा रूपवते, मन्धुमाधव, भाई नरेन्द्र मोरे, चोखा कांबळे, म. दु. ताम्हणेकर, यादवराव गांगुर्डे तथा डी.वाय, कांबळे। ये लेखक रिपब्लिकन पार्टी से संबंधित थे या उसके कार्यकर्ता थे। डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर की मृत्यु के बाद रिपब्लिकन पार्टी में फूट पड़ गई और वह दो हिस्सों में विभाजित हो गई। इस विभाजन से महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ भी दो टुकड़ों में बँट गया जिसमें एक थी **'महाराष्ट्र की बौद्ध परिषद'** और दूसरी **'महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य सभा'।** इन दोनों साहित्यिक संस्थाओं का दलित साहित्य आंदोलन को आगे ले जाने में बड़ा योगदान रहा है। इस समय जो दलित लेखक दलित जीवन की व्यथा को अपनी कृतियों के माध्यम से व्यक्त कर रहे थे उनमें प्रमुख थे अण्णाभाऊ साठे, शंकरराव खरात और बाबूराव बागुल। 'बाबूराव बागुल की कहानियाँ दलितों की वेदना की अभिव्यक्ति के द्वारा विषम समाजव्यवस्था के विरुद्ध, एक विद्रोही के रूप में जूझ रही थी।' विद्रोहाच्या कविता शीर्षक का इनका पंद्रह कविताओं का एक संकलन इसी समय प्रकाशित हुआ था जो सायक्लोस्टाईल कापी के रूप में था। अस्पृश्यता के दाहक अनुभवों से दग्ध जीवन की अभिव्यक्ति इसमें मिलती है। उनकी एक कविता यहाँ उदाहरण रूप में प्रस्तुत है - 'यहाँ (इस देश में) जन्म लेने की भूल जिन्होंने की है वे ही इसे सुधारेंगे देश त्याग करके या भीषण युद्ध करके।'

'बाबूराव बागुल' लिखित 'जेंव्हा मी जात चोरली' (जब मैंने जाति छुपाई) नामक कहानी संग्रह ने मराठी साहित्य की परंपरावादी मानसिकता को झकझोर दिया था। मराठी ललित साहित्य के इतिहास में इससे पहले किसी भी लेखक ने दलितों के जीवन की विवशता और अपमान से भरे जीवन को कहानी या कविता में इतने प्रभावी रूप में अभिव्यक्त नहीं किया था। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं ने तथा मराठी क समीक्षकों ने इस कहानी संग्रह की काफी सराहना की थी। बाबूराव द्वारा प्रयुक्त इस शैली को अन्य दलित जीवन को चित्रित करने के लिए मराठी ललित साहित्य के समीक्षा के मानदंडों से निर्मित चित्र फलक छोटा पड़ रहा था। उन समीक्षा मानदण्डों से केवल मराठी क परंपरागत ललित साहित्य का ही मूल्यांकन हो सकता था। दलित साहित्य के मूल्यांकन के लिए वे सक्षम नहीं थे। अतः दलित साहित्य की समीक्षा के लिए मराठी समीक्षा को अपने मानदंड बदलने पड़े हैं।

डॉ. आंबेडकर ने दलितों में शिक्षा के महत्व के प्रति जागृत चेतना को मूर्त रूप देने हेतु औरंगाबाद शहर में मिलिंद महाविद्यालय की स्थापना की थी। यहाँ पर महाराष्ट्र के कोने-कोने से दलित विद्यार्थी शिक्षाग्रहण करने आने लगे। यही ***'नागसेनवन'*** में स्थित ***मिलिंद महाविद्यालय और औरंगाबाद, दलित साहित्य आंदोलन का केन्द्र बन गए।*** यहीं से दलित साहित्य का आंदोलन अपना रूप गढ़ रहा था। शिक्षित सुसंस्कृत दलित युवकों के मन में अपने जीवन के अनुभवों को शब्दांकित करने की इच्छा जाग उठी थी। परिणामतः कहानी, कविताएँ लिखी जा रही थी। परंतु प्रश्न था उनके प्रकाशन का। क्योंकि रचनाकार और उनके विषय तथा आशय दलित जीवन से संबंधित थे। लेखक की रचना को प्रकाशित होने का अवसर प्राप्त न हुआ तो उसे मर्मान्तक यातनाएँ होती

है। परंतु लेखन शक्ति को इस तरह दबाकर नहीं रखा जा सकता। पत्थर को तोड़कर पानी का स्रोत मैदान की ओर बहने के लिए जिस प्रकार व्याकुल रहता है उसी प्रकार की व्याकुलता रचनाकार में भी होती है। डॉ. म.ना.वानखेडे उस समय मिलिंद महाविद्यालय के प्रिंसीपल थे, छात्रों की इस छटपटाहट को वे महसूस कर रहे थे। वे लिखते हैं 'इस व्यग्रता को देखकर मैंने मेरे सहयोगियों की सहायता से दलितों के सांस्कृतिक और शिक्षा के केंद्र में 'दलित साहित्य मंच' की स्थापना का निश्चय किया। मराठी साहित्य क्षेत्र में विशिष्ट वर्ग का वर्चस्व होने एवं फार्म संबंधी गलत दृष्टिकोण के कारण दलित जीवन इससे पहले कभी भी साहित्यिक विषय नहीं बन सका। इस तरह का अन्याय न केवल समाज के साथ है बल्कि साहित्य के साथ भी है। इस बात की गंभीरता को देखकर हमने सन् 1967 में **'मिलिन्द साहित्य सभा'** की स्थापना की। जिसके अंतर्गत **अस्मिता** पत्रिका का प्रारम्भ हुआ। **मिलिन्द साहित्य सभा 'अस्मिता', 'अस्मितादर्श'** और दलित साहित्य के आंदोलन का जन्म डॉ. आंबेडकर की विचारधारा से प्राप्त प्रेरणा और लेखकों में जागृत सामाजिक दायित्व के अहसास से हुआ है।'

दलित साहित्य आंदोलन को निश्चित दिशा देने और उसका विकास करने में 'अस्मितादर्श' त्रैमासिक पत्रिका का बहुत बड़ा योगदान रहा है। बाबूराव बागुल, दया पवार, अर्जुन डांगळे, वामन निंबाळकर, नामदेव ढसाळ, केशव मेश्राम, वामन इंगळे, ज.वि. पवार यशवंत मनोहर, शंकरराव खरात, कुमद पावडे, ज्योति लांजेवार, लक्ष्मण गायकवाड, लक्ष्मण माने, अमिताभ आदि दलित लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित करके **'अस्मितादर्श'** पत्रिका साहित्यिक दायित्व के साथ-साथ सामाजिक दायित्व को निभा रही है।

दलित साहित्य आंदोलन और दलित मुक्ति आंदोलन एक दूसरे के पर्याय के रूप में जन्में आंदोलन हैं। दलित मुक्ति आंदोलन जो सामाजिक स्तर पर सक्रिय था उससे प्रेरणा लेकर दलित साहित्य आंदोलन साहित्यिक क्षेत्र में नई चेतना का विस्तार कर रहा था। इसी चेतना की अगली कड़ी है 'दलित पैंथर आंदोलन'।

'दलित पैंथर की दलित साहित्य आंदोलन में भूमिका'

'दलित पैंथर' संगठन दलित मुक्ति संग्राम का एक जुझारू दस्ता है, जिसकी प्रमुख भूमिका राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में देखी जा सकती है। इस संगठन से अनेक दलित लेखक भी जुड़े हुए हैं। इसका उदय अत्यंत विषमतापूर्ण सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में हुआ। गाँवों में अमीर किसानों और शासन व्यवस्था ने दलितों पर अत्याचारों का सिलसिला शुरू कर रखा था। दलित कभी अस्पृश्य होने के नाते तो कभी भूमिहीन किसान के नाते विभिन्न अत्याचारों का शिकार होते। शहरों में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के कारण बेरोजगार युवावर्ग साधन-हीनता के कारण हीन भावना से ग्रस्त था। और दिशाहीन होकर भटकाव की स्थिति में पहुँच गया था। गाँवों और शहरों में शिक्षित दलितों युवकों की संख्या बढ़ रही थी। ग्रामीण क्षेत्रों में सक्रिय वामपंथी आंदोलन से परिचित इन युवकों ने तत्कालीन समाज व्यवस्था के विषमतावादी स्वरूप के खिलाफ आवाज उठाई। बढ़ते हुए सामाजिक अन्याय, अत्याचारों की पृष्ठभूमि में रिपब्लिकन पार्टी की निष्क्रियता युवा मन को क्षुब्ध कर रही थी। दलित युवक यह समझने लगे थे कि इस बढ़ते हुए अन्याय के खिलाफ केवल साहित्य आंदोलन कारगर नहीं हो सकता। उन्हें साहित्यिक आंदोलन के साथ सामाजिक आंदोलन की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। इसी समय सिद्धार्थ कालेज के छात्रावासों में रहने वाले दलित और अदलित युवकों के संयुक्त सहकार्य से 'युवक आघाड़ी' की स्थापना हुई जिसमें दया पवार, अर्जुन डांगळे, नामदेव ढसाळ, ज.वि.पवार, प्रह्लाद चेंदवणकर, राजा ढाले आदि दलित प्रमुख दलित

युवा रचनाकार भी शामिल थे। ये सभी युवा रचनाकार अमरीका के अश्वेत साहित्य और अश्वेत क्रांतिकारी (मुक्ति) आंदोलन से परिचित हो गए थे। इसी आंदोलन से (जो अमरीका में 'ब्लैक पैन्थर' नाम से जाना जाता था) प्रेरणा लेकर इन युवकों ने 9 जुलाई ई. सन् 1972 को **'दलित पैंथर'** की स्थापना की। 'दलित पैंथर' ने दलितों पर हो रहे अत्याचारों के निषेधार्थ उस वर्ष के स्वतंत्रता दिवस को **'काले दिवस'** के रूप में मनाया और काले झंडों के साथ दलित पैंथर ने शहर में मोर्चा निकाला। 'दलित पैंथर' और दलित साहित्य का संबंध बहुत गहरा है। प्रो. मोईन शाकीर के अनुसार : 'इस बात पर गौर करना चाहिए कि दलित साहित्य और दलित पैंथर आंदोलन का संबंध बहुत गहरा है। वास्तव में विद्रोह की अभिव्यक्ति और क्रांति के जोश का अहसास साहित्य के माध्यम से ही विकसित हुआ है।'

मोईन शाकीर के कथनानुसार और अन्य तथ्यों को देखते हुए यह कहना तर्कसंगत होगा कि दलित साहित्य आंदोलन की प्रेरणा से ही 'दलित पैंथर' की उत्पत्ति हुई है।

27.2.3 दलित साहित्य, नामकरण और स्वरूप

मराठी साहित्य के इतिहास में यह दूसरा प्रसंग है जब साहित्य को आंदोलन के रूप में देखा गया। प्रथम प्रसंग भक्ति साहित्य आंदोलन का था और दूसरा प्रसंग दलित साहित्य आंदोलन का है। पर यह किसी राजनीतिक आंदोलन की तरह का आंदोलन नहीं है जिसमें तत्कालीन प्रश्नों पर दृष्टि केंद्रित रहती है। किसी साहित्यिक आंदोलन के पीछे कोई राजनीतिक या सामाजिक आंदोलन हो सकता है, पर उसे साहित्यिक प्रतिष्ठा सर्जनात्मक कर्म और मूल्य-चिन्तन से मिलती है। दलित साहित्य आंदोलन की पृष्ठभूमि में 'दलित मुक्ति संग्राम' अवश्य है, पर वह किसी राजनीतिक दल का साहित्यिक मोर्चा नहीं है।

'दलित साहित्य' शब्दावली का जो विशेष अर्थ है उसी में इस साहित्य की अर्थवत्ता निहित है। दलित साहित्य के नामकरण पर विचार करने से पहले 'दलित' शब्द पर विचार करना प्रासंगिक होगा।

विभिन्न विचारकों ने दलित शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ की हैं। डॉ. आंबेडकर ने दलित शब्द को अस्पृश्य के स्थान पर अपनाया। अस्पृश्य शब्द की जो व्याख्या उन्होंने 'The Untouchable' नामक अपने अंग्रेजी ग्रंथ में दी उससे यही पता चलता है। डॉ. आंबेडकर ने गिरिजन, खानाबदोश जातियों, अपराधी घोषित की हुई जातियाँ ex-criminal tribes (denotifide) और अछूत इन तीनों समुदायों को अस्पृश्य (दलित) कहा है। 'उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार दलित शब्द में शोषित, पीड़ित और आर्थिक दृष्टि से दुर्बल सभी वर्गों का समावेश हो जाता है। इन सभी जातियों की गुलामी और दासता का स्वरूप सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक ही है, इसलिए दलित शब्द का प्रयोग उन सभी उपेक्षित जातियों, जन जातियों के लिए किया जाता है।'

डॉ. आंबेडकर ने 'What congress and Gandhiji have done to the Untouchables' नामक ग्रंथ में 'अस्पृश्य' शब्द के लिए जिन पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है, उससे अस्पृश्यता शब्द का बोध होता है। उन्होंने अस्पृश्य (Untouchables) के लिए 'Depressed classes, Scheduled caste/और Servide castes इन शब्दों का प्रयोग किया है। इसके कारणों को बताते हुए वे लिखते हैं 'इस पुस्तक में मैंने अस्पृश्य वर्ग के लिए डिप्रेस्डक्लासेस, शैड्यूल्ड कास्ट्स, और गुलाम वर्ग

इन नामों का प्रयोग किया है जिसका कारण है अस्पृश्य वर्ग के लिए समय-समय पर अधिकृत और अनधिकृत तौर पर इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया' द्वारा शैड्यूल्ड कास्ट का प्रयोग होता है। सन् 1936 के बाद इस शब्द का प्रयोग होता रहा, इससे पूर्व गांधी जी द्वारा हरिजन और सरकार की ओर से डिप्रेस्ड क्लासेस कहा जाता था। अतः ये सारे शब्द प्रयोग समानार्थी ही है और अस्पृश्य वर्ग के लिए ही प्रयुक्त भी किए गए हैं।'

बाबूराव बागुल के अनुसार ''दलित' वह है जो वर्णव्यवस्था और उसकी मानसिकता को ध्वस्त कर देना चाहता है। दलित इस विश्व और जीवन को नए रूप में ढालना चाहता है जिसके हाथों को इस युग ने प्रज्ञावंत प्रलयंकारी बनाने के लिए, शस्त्रों तथा शास्त्रों को उपलब्ध कर दिया है।'' इस व्याख्या के अंतर्गत अमरीकन गोरे और ताम्र वर्ण के लोग और अफ्रीकी तथा एशियाई देशों के काले, गोरे और पीले भी समाविष्ट हैं।

27.3 हिंदी साहित्य : दलित कहानी का विकास

हिंदी दलित साहित्य का अवलोकन करने पर यह बात स्पष्ट रूप में दिखाई देती है कि दलित साहित्य की सबसे सशक्त अभिव्यक्ति दलित कविताओं में हुई है। कविता, कहानी की तुलना में अधिक लिखी गई हैं। लेकिन पिछले एक दशक में प्रकाशित हिंदी दलित साहित्यिक रचनाओं में कहानी संग्रहों की संख्या पर्याप्त है। जिसमें दलित चेतना के विकास में योगदान देने वाले अनेक दलित कहानिकारों की कहानियाँ शामिल है। अभी तक प्रकाशित कहानी संग्रहों में प्रमुख हैं - ' समकालीन दलित कहानियाँ' - संपादक डॉ. कुसुम वियोगी, ' आवाजें' - मोहन दास नैमिशराय, 'सुरंग' - दयानंद बेटोही, 'हैरी कब आएगा' - सूरजपाल चौहान, 'पुटूस के फूल' - प्रह्लादचंद दास, (संपादित) - 'दलित कहानी विशेंषांक' - युद्धरत आम आदमी का प्रकाशन, रमणिका गुप्ता (संपादित) 'सलाम' - ओमप्रकाश वाल्मीकि

हिंदी साहित्य में ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी से दलित कहानी का आविर्भाव हुआ। दलित जीवन में व्याप्त दारिद्रय, दीन-हीनता, विवशता और दुख के दृश्य इनकी कहानियों में कई बार बड़ी सफलता से अंकित किए है। इस दृष्टि से इनकी ' पच्चीस चौका डेढ़ सौ', 'सलाम', 'कमीन', ' अम्मा', 'शवयात्रा' कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं। हिंदी साहित्य में जिस स्वत्वबोध की भावना के कारण दलित कहानी ने अपनी विशिष्टता सिद्ध की है, वह सर्वप्रथम ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में ही व्यक्त हुई है।

दलित कहानी पर विचार करते समय सर्वप्रथम ध्यान जाता है, दलित कहानी की विषयवस्तु पर। इनमें अभिव्यक्त दलित समाज, उनका परिवेश, उनकी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक समस्याएँ। बहिष्कृत बस्तियों में रहने की विवशता, इनका शाश्वत दारिद्रय, सर्वभक्षी और अभक्ष्य भक्षी भूख, अछूतों के हिस्से में आते असह्य अनुभव दलित कहानी की विशेषता है। दलित जीवन के संपूर्ण सरोकारों को समेटती दलित कहानी केवल दलित जीवन की त्रासदी को ही अभिव्यक्त नहीं करती, बल्कि अन्य समाजों के साथ उसके संबंध, दलित जीवनांतर्गत तनाव, भेदभाव और जड़ मानसिकता को भी प्रकट करती है। मराठी साहित्य में दलित कहानी ने इसी प्रकार नया आयाम जोड़ा है। बाबूराव बागुल के प्रथम कहानी संग्रह 'जब मैंने जाति छिपायी थी' (जेंव्हा भी जात चोरती होती) के प्रकाशन के साथ ही मराठी साहित्य में दलित कहानी ने दस्तक दी थी। इन कहानियों ने तब तक के आभिजात्य मराठी लेखन को जबरदस्त धक्का

दिया था। दलित जीवन की वास्तविकता का वैसा सच्चाईपूर्ण चित्रण, जो कि लेखक की स्वानुभूति से उजागर हुई थी, इससे पहले सृजन का विषय ही नहीं बनी थी। आभिजात्य मराठी लेखकों द्वारा इस साहसपूर्ण सृजनात्मक प्रयास का स्वागत ही किया गया। कुछ कट्टर दक्षिणपंथियों का विरोध इस साहित्य के तेवर को देखकर अपने आप ही खत्म हो गया। क्योंकि उनका विरोध दलित कहानी के विषयवस्तु को लेकर ही था। सामाजिक व्यवस्था के विषमतावादीस्वरूप पर प्रहार, जातिप्रथा और वर्णव्यवस्था का विरोध, अस्पृश्यता जैसी अमानवीय परंपरा का निषेध, हिंदू धर्म की ब्राह्मणवादी प्रवृत्तियों और असमानता की नीतियों का पर्दाफाश करना दलित कहानी और दलित साहित्य का उद्देश्य था। तमाम समतावादी मूल्यों से लैस होकर दलित साहित्य परिवर्तन की दिशा में पड़ाव-दर-पड़ाव बढ़ रहा था। ऐसे में विरोधी ताकतें अपना सा मुँह लेकर सिमटने के सिवाय भला क्या कर सकती थी? हिंदी साहित्य में भी इसी अनुभव को दोहराया जा रहा है। आज जहाँ दलित साहित्य का विस्तार अनेक विधाओं के अंतर्गत हो रहा है। तो ब्राहमणवादी ताकते अपने पूर्व परंपरागत तरीकों से जीवनवादी, समतावादी, मानवतावादी दलित साहित्य का विरोध करने में एकजुट हो रही है। हिंदी आलोचना दलित साहित्य के अस्तित्व और मूल्यचेतना को लेकर स्तब्ध है। यही एक ऐसा क्षेत्र है जिस पर आभिजात्यवादी आलोचक वर्ग का आधिपत्य है और इनकी कट्टरवादिता के कारण इन्हें दलित रचनाओं की ऊर्जा शक्ति अभी तक आकर्षित नहीं कर सकी। दलित साहित्य की अवधारणा, रचना कर्म की मूल्यवत्ता, वस्तु, संदर्भ और प्रस्तुति को लेकर हिंदी आलोचना गहरे चिंतन में डुबी है। एक बार की मान्यता हिंदी की वर्चस्ववादी, तथाकथित सवर्ण विचारधारा को धकिया कर हाशिये पर डाल सकती है और इसलिए भी हिंदी आलोचक चुप्पी साधे हुए हैं। 'स्वानुभूति' पर आधारित साहित्य के प्रति पूर्वाग्रहों के कारण हिंदी आलोचक अपने संस्कारगत विचारों को त्याग नहीं सकते। यही कारण है कि कुछ आलोचक केवल प्रश्नार्थक वाक्य उछालकर अपनी राय दे रहे हैं। जैसे 'क्या साहित्य भी दलित हो सकता है?' 'साहित्य में आरक्षण क्यों?' 'दलित साहित्य में साहित्य कितना?' इत्यादि इत्यादि।

डॉ. तेजसिंह 'आज का दलित साहित्य' में इस प्रवृत्ति पर करारी चोट करते हुए लिखते हैं 'दलित साहित्य मानवतावादी साहित्य है। जो लोग उसे मानवतावादी न मानकर समाज को विभाजित करने वाला जातिवादी साहित्य बताकर अपनी हठधर्मिता का परिचय दे रहे हैं, उन्हें इन दलित कहानियों को भी पढ़ने का कष्ट कर लेना चाहिए। बिना पढ़े फतवे देना कठमुल्लापन है जो उनकी ब्राहमणवादी सोच और संस्कारों को दिखाता है।'

यहाँ यह कहावत सही तौर पर खरी उतरती है 'जिसके पांव न फटे बिवाई, वह क्या जाने पीड़ पराई।' जिन्होंने अपमानबोध, लाचारी, अभाव, दारिद्रय, अवहेलना और त्रासद जीवन के अनुभवों की दाहकता को झेला नहीं है, वे किस आधार पर इस मानवतावादी साहित्य का विरोध करते हैं? या कहीं इनके अंदर का अहं तो नहीं बोल रहा? कि हमारी इजाजत के बिना साहित्य के क्षेत्र में दाखिल होने की दलितों की यह जुर्रत। शायद ऐसा ही भाव इससे प्रकट होता है। यह बातें इसलिए जानना जरूरी है कि साहित्य के क्षेत्र में आ रहे परिवर्तन को सहज रूप से स्वीकार नहीं किया जाता। इसके लिए एक निरंतर संघर्ष की जरूरत है और दलित सामाजिक, आर्थिक संघर्ष की एक लड़ाई लड़ ही रहा है, अब साहित्य में अपनी जगह बनाने के लिए भी जाति संघर्ष के रास्ते पर इसे चलते जाना होगा।

27.4 दलित चेतना का विकास :'यह अंत नहीं'

एक मेहनतकश मजदूर दलित परिवार के जीवन में एक दिन अचानक ऐसी घटना घटी कि सारा परिवार भूचाल के धक्के से जैसे दरक गया। मंगलू और सरबती की बेटी बिरमा के संघर्ष को यह कहानी उजागर करती है। मजदूरी करके पेट पालने वाले दलित परिवार की हमेशा यह इच्छा रहती है कि उनके बच्चे पढ़ लिखकर अच्छा जीवन जीनें के योग्य बने। यही सोचकर अभाव में दिन काटने वाले मंगलू ने किसन को शहर में कॉलेज की पढ़ाई के लिए भेजा था। बेटी की पढ़ाई को माँ-बाप ने जरूरी नहीं समझा और बिरमा पढ़ाई से वंचित रही। घर के और बाहर के काम में वह माँ-बाप का बराबर हाथ बँटाती। मेहनत मजदूरी करने वह भी उनके साथ खेतों में जाती। धान की कटाई के दिनों में वह अक्सर खेतों पर काम करती। उस रोज भी वह धान काटने तेजभान के खेत में गई थी। शाम होते-होते काम के बदले में मिले धान के गट्ठर को उठाकर वह घर की ओर चल पड़ी थी। माँ ने उसे आगे इसीलिए भेजा था कि उन्हें और देर हो सकती थी और घर जाकर शाम की रोटी भी बनानी थी।

मंगलू ने कहा, 'तू घर जा। सांझ हो रही है.... घर जाके रोट्टी-पाणी देख लियो... हमें आणे में देर हो जागी। बुग्गी में धान लादके ही आणा होगा। तू चल।'

कच्चे रास्ते से सर पर धान का गट्ठर उठाए बिरमा घर की ओर चली जा रही थी। तभी उसने सचिन्दर को बगीचे में खड़े होकर उसे ही घूरते हुए देखा। वह घबराई जरूर, लेकिन हिम्मत करके जल्दी-जल्दी कदम उठाने की कोशिश करती रही। सचीन्दर उसके पीछे-पीछे आ रहा था। अचानक उसने सामने आकर उसका रास्ता रोक लिया। बेहयायी से बोला, 'सिर पर इतना बोझ है, थक गई होगी। थोड़ा सा सुस्ता ले....' यह कहते हुए उसने बेशरमी से बिरमा के गालों को छुआ और अब वह उसके सीने की ओर हाथ बढ़ा रहा था। 'बिरमा ने पीछे हटने की कोशिश की, संतुलन बिगड़ा लेकिन बिरमा ने सिर पर रखा गट्ठर सचीन्दर के ऊपर गिरा दिया। अचानक हुए इस हमले से वह गड़बड़ा गया और गिर पड़ा। जैसे ही उसने उठने की कोशिश की, बिरमा ने पूरी ताकत से उसकी जांघों के बीच वार किया। लात का प्रहार इतना तगड़ा था कि सचीन्दर उठ नहीं पाया।' बिरमा के इस अचानक हमले से एक कामी पुरुष भाग खड़ा हुआ। किसी तरह लड़खड़ाकर खेत में घुसकर गुम हो गया।'

'बिरमा कुछ देर उसी क्रोधित मुद्रा में खड़ी रही। गुस्से में उसका शरीर कांप रहा था।' घर लौटकर बिरमा सहज नहीं हो पाई थी। माँ के आते ही अब तक का रोका हुआ आँसुओं का बाँध फट पड़ा। माँ को सारी घटना बताइ, तो माँ काँप गई। उसे ढाढ़स बंधा कर और चुप रहने की सलाह देकर सरबती ने सारी बातें मंगलू को बताई। 'मंगलू के पांव-तले की जमीन खिसक गई। उसने एक गहरी सांस खींची। रात के गहरे अंधेरे में अपनी पीड़ा को घोलने की चेष्टा करने लगा।' कुछ देर की खामोशी के बाद उसने सरबती से कहा, 'बिरमा को ठीक से समझा देना। किसन से कोई जिक्र ना करे।' माँ-बाप के इस फैसले से बिरमा नाराज थी। वह अपने हुए अपमान को सह नहीं सकती थी क्योंकि यह एक दलित स्त्री के सम्मान का प्रश्न था। अनपढ़ होते हुए भी बिरमा को अपने भाई किसन और उसके कॉलेज के साथियों की बातचीत सुनकर शोषण को न झेलने की सीख और प्रतिरोध की ताकत मिलती है, और वह सचीन्दर से अपने अपमान का बदला लेने के लिए पंचायत से न्याय की अपील करती है। दलितो की नयी पीढ़ी पढ़ लिखकर सवर्णों के अत्याचारों के विरोध में खड़े होकर अपनी बिरादरी की स्त्री की

अस्मिता बचाने के लिए संघर्ष को तैयार है। किसन ने सारी घटना को सुनते ही अपने मन में ठान लिया कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया की महत्वपूर्ण संस्था पंचायत के द्वारा, वह बिरमा के ऊपर हुए अन्याय के खिलाफ न्याय मांगेगा। पुरानी पीढ़ी अशिक्षा के कारण आत्मसम्मान, स्वाभिमान, संघर्ष, संगठन जैसे जीवन को बदलने वाले संदर्भों को समझने से अछूती ही रही। इसलिए वह नयी पीढ़ी को पंचायत में जाने से रोकना चाहती है। कहानी में पंचायती राज की लोकतंत्रिक प्रक्रिया के जातिवादी चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। दलितों की नई पीढ़ी में अन्याय-अत्याचार के खिलाफ एकजुट होकर अपनी हार को जीत में बदलने का विश्वास दृष्टिगत हुआ है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी इस कहानी के माध्यम से इसी सच को उजागर करना चाहते हैं।

27.5 दलित स्त्री अस्मिता का संघर्ष

ग्रामीण जीवन में दलित स्त्री पर अत्याचार की घटनाओं की संख्या को देखकर लगता नहीं कि हम किसी सभ्य समाज में रह रहे हैं। जातिवादी समाज की बर्बरता जाति श्रेष्ठता को दर्शाने का पर्याय बनी है। भारतीय आभिजात्यवादी सभ्यता, संस्कृति और वर्णवर्चस्व की यह न खत्म होने वाली प्रवृत्ति है। सोलह वर्षीय फूलन देवी पर बेहमाई के बीस ठाकुरों द्वारा लगातार कई दिनों तक बलात्कार किया गया था। उसे नग्न करके संपूर्ण गाँव के लोगों के समक्ष उसे कुएँ से पानी भरने पर मजबूर किया गया था। दलित स्त्री के स्त्रीत्व पर अमानुष अत्याचार करके उसके अस्तित्व मिटा देने की बेहमाई के ठाकुरों की जातिअहं और वर्चस्व की निरंकुशता, जातिवादी घृणा की पराकाष्ठा थी। एक अबोध, असहाय किशोरी, कामांध बर्बर पशुओं के आगे बेबस थी। लेकिन स्त्री के अस्तित्व और अस्मिता को नकारने, उसे अपमानित करने के कारण जो आग फूलन में भड़की थी, वह बीस से बाईस वहशी ठाकुरों को गोलियों का निशाना बनाकर ही ठंडी हो पाई थी। फूलन को इस समाज ने नहीं चंबल के बिहड़ों ने सहारा दिया था। समाज के कथित सवर्णों की बेरहमी, बर्बरता, पाशविकता ने फूलन को दस्यु सुंदरी बनने पर मजबूर किया था। एक स्त्री की अस्मिता का अपमान उसे क्या से क्या बना दे सकता है, इसका यह एक जीवंत उदाहरण है। इससे सवर्ण जाति अंह से ग्रस्त समाज को बोध लेना चाहिए।

बिरमा के स्त्रीत्व का अपमान भी इसी प्रकार के जातिअहं से ग्रस्त, कथित सवर्ण जमींदार पुत्र की मनमानी प्रवृत्ति को ही दर्शाता है। दलित परिवार के सभी सदस्य जब तक मेहनत-मजदूरी नहीं करेंगे अपना घर नहीं चला सकते। बिरमा का सारा परिवार तेजभान के खेतों में धान काटने के काम में लगा था। शाम होने से पहले ही बिरमा को अकेले घर लौटना पड़ा। सर पर धान का गट्ठर उठाए वह तेज गति से घर की ओर चल पड़ी थी। काम करते हुए उसे यह महसूस हो गया था, तेजभान का लड़का उसे निरंतर घुर रहा था। शाम को घर की ओर निकली बिरमा का रास्ता रोकर वही सचीन्दर खड़ा हो गया। न केवल उसका रास्ता रोका था बल्कि उसके शरीर से उलझने लगा था। बड़ी बेशर्मी बेहयायी से बोला, 'सिर पर इतना बोझ है, थक गई होगी। थोड़ा सा सुस्ता ले....' जैसे ही उसने अपने हाथ बिरमा को अपमानित करने के लिए, उसके स्त्रीत्व को एक भोग की वस्तु समझकर बढ़ाए थे। तभी बिरमा ने उसकी जांघों के बीच लात से एक भरपूर प्रहार किया था। सचीन्दर ने एक दलित स्त्री को अपनी हवस का शिकार बनाना चाहा था। क्योंकि उसकी सोच में दलित स्त्री सम्मान की अधिकारी ही नहीं है। वह उसे भोग की वस्तु के रूप में देख रहा था। भंवरी बाई पर बलात्कार करने वाले कथित कामांध सवर्ण पुरुषों की यही प्रवृत्ति रही है। सचीन्दर इसी

पुरोहितवादी, परंपरागत जातिवादी मानसिकता से ग्रसित है और 'बिरमा' पर इसी प्रवृत्ति के कारण वह अत्याचार करना चाहता है। 'बिरमा' उसके लिए एक व्यक्ति नहीं, केवल एक वस्तु है। कथित सवर्णों पर सदियों पुरानी जातिवादी, मनुवादी विचारधारा का प्रभाव कितना गहरा है, यह इससे स्पष्ट हो जाता है। स्वतंत्रता के बाद दलितों को मिली समानता, स्वतंत्रता और न्याय के अधिकारों का हनन बड़ी मात्रा में देश में होता है, लेकिन पुलिस और विधायिका संस्थाएँ उत्पीड़ितों को न्याय दिलाने में कोई सक्रिय भूमिका नहीं निबाहती। क्योंकि जातिवादी प्रवृत्तियों का प्रभाव इन पर भी उतना ही है।

'बिरमा' को पढ़ने-लिखने का अवसर नहीं दिया गया, लेकिन उसका भाई किसन कॉलेज में पढ़ाई कर रहा है। लड़की के प्रति दलित परिवार भी उसी प्रकार अनुदार है जिसका शिकार सभी आम भारतीय परिवार है। अपने अनपढ़ होने का उसे अहसास और दुःख भी है। भाई और उसके कॉलेज के साथियों के बीच होने वाली बहस, विचार विमर्श वह ध्यान से सुनती है। उन्हीं की बातचीत में बार-बार आते शब्द आत्मसम्मान, आत्मविश्वास, स्वाभिमान, संघर्ष संगठन उसके लिए केवल शब्द ही रह गए थे। 'वह इनके अर्थ जानना चाहती थी। किसन से पूछती तो वह समझाने की कोशिश करता, लेकिन बिरमा को लगता कि वह समझ नहीं पा रही है। वह मन मसोस कर रह जाती थी। ऐसे क्षणों में उसको लगता, काश। उसे भी बापू ने स्कूल भेजा होता। किसन की तरह वह भी कॉलेज जाती तो इतनी बड़ी-बड़ी बातें उसकी समझ में जरूर आती।' अपने भाई की प्रतिभा से वह भी खुश थी। उसके जैसी बाते करने वाला गाँव में कोई भी नहीं था। बिरादरी में तो क्या होगा। किसन को जब बिरमा ने अपने ऊपर हुए हमले की घटना से अवगत कराया तो, उसके तो तनबदन में आग लग गई थी। बहन के अपमान को वह चेतनाशील युवक कभी भी बर्दाश्त नहीं कर सकता था। माँ और बापू के मना करने पर भी बिरमा ने किसन को सारी घटना सुना दी थी। वह चाहती थी कि उसके साथ किए गए अन्याय की सजा शोषक सचिन्दर को जरूर मिले। किसन अपने दोस्तों से सलाह मशविरा करके इस अन्याय के खिलाफ संघर्ष करने को तैयार हुआ था। 'विचार विमर्श के बाद सभी की राय थी कि तेजभान ताकतवर आदमी है। उसके लड़के पर हाथ डालने का मतलब है आग से खेलना। सभी की राय थी कि सचीन्दर से सीधा टकराने की बजाय पुलिस से मदद ली जाए। पुलिस ने रिपोर्ट दर्ज करने से इन्कार ही नहीं किया बल्कि अश्लील शब्दों में दलित स्त्री के साथ हुए अन्याय को बर्दाश्त करके चुप रहने की हिदायत तक दी। पुलिस के जातिवादी और घृणात्मक रवैये से किसन और उसके साथी हैरान ही नहीं हुए, गुस्से से भर गए थे। अब वे इस अन्याय की तह तक जाकर उसे उखाड़ना चाहते थे। बिरमा भी अपनी जगह अटल थी। गाँव बिरादरी ने जब साथ देने से मना किया तो आखरी सहारा बच गया था पंचायत का। किसन और उसके साथी इस जनतांत्रिक संस्था की मदद से समस्या का समाधान ढूंढ़ना चाहते थे।'

'काफी सोच-विचार के बाद प्रवीण ने सलाह दी, 'बिरमा की ओर से पंचायत में शिकायत की जाए।' प्रवीण पंचायती राज का पक्षधर था। उसका कहना था कि पंचायत एक लोकतांत्रिक संस्था है। गाँव की समस्याओं को निपटाना पंचायत का कर्तव्य है।'

इस फैसले से किसन कुछ अहमत था क्योंकि वह जानता था प्रधान बिसन सिंह दलित होकर भी तेजभान का ही बिठाया हुआ मोहरा है और वह इस लड़ाई में बिरमा का नहीं बल्कि तेजभान का ही साथ देगा। लेकिन जनतांत्रिक मूल्यों पर उसका भी विश्वास था। 'एक अर्जी तैयार की गई। बिरमा से उस पर अंगूठा लगवाया गया। अर्जी लेकर किसन ही प्रधान के पास गया था। घटना की जानकारी होते हुए भी अर्जी लेने से आनाकानी

करते हुए प्रधान ने पूछा था 'किसलिए अर्जी दे रहे हो?' किसन अर्जी उसके हाथ में थमाकर लौट आया था।

अर्जी की बात खुद बिसनसिंह ने तेजभान को बताई थी और गुस्से में भरे तेजभान ने मंगलू को बुलाकर उसे डराया-धमकाया था। मंगलू को लगा जिस बात से वह डर रहा था वही हुआ था, बिरमा की बदनामी सारे गाँव में होने लग गई थी। स्त्री पर हुए अत्याचार की घटना का दोष हमेशा स्त्री को दिया जाता। पुरुष सत्तात्मक समाज का यही रवैया है। दोषी क्योंकि पुरुष होता है, उसे गुनाहगार नहीं माना जाता बल्कि उसके अधिकारों में इसे जोड़ने का प्रयास किया जाता है। भारतीय समाजव्यवस्था की इस दोगली नीति के विरोध में कानून भी अपंग हो जाता है। बिरमा का न्याय के लिए संघर्ष करना परंपरावादियों की नजर में उसके चरित्र को ऊँचा नहीं उठाता, बल्कि उसे ही दोषारोपण करके चुप रहने की हर कोई सलाह देता रहा।

'मंगलू ने गुस्से में भरकर जब किसन को पीटा तो बिरमा क्रोध से कांप उठी थी। उसने बापू के हाथ से डंडा छीनकर दूर फेंक दिया। आवाज में तीखापन भरकर बोली, 'वाह बापू, जो भाई अपनी बहन की आबरू की खातिर लड़ रहा है, तुम उसे पीट रहे हो.....और जो.....' अचानक उसके भीतर जमा सैलाब फूट पड़ा।'

बिरमा को रोते देख मंगलू भी रो पड़ा और उसने रोते हुए विवशता भरे शब्दों में कहा था 'तू ही बता बेट्टी मैं क्या करूं.....वे सब जालिम लोग हैं।' बिरमा ने कड़क कर कहा था 'कुछ मत करो बापू। जुल्म के आगे झुक जाने पर भी क्या होगा.....।' बिरमा ने जिन शब्दों और स्वर में यह बात कही उससे मंगलू का भी धैर्य बंधा था।

वह जान चुकी थी कि आत्मसम्मान की लड़ाई में लड़की की बदनामी, आबरू मिट्टी में मिलना, कलंक लगना सब कुछ गौण बाते हैं। यह स्त्री के अस्तित्व को नकारने के बनाए गए सामाजिक टोटके है। जिनके डर से समाज का कोई भी उत्पीड़ित व्यक्ति, खास करके महिला शोषण की शक्तियों से लड़ने की हिम्मत नहीं करती। स्त्री की आबरू का इस प्रकार एक काल्पनिक चित्र बनाकर रखा गया है कि जब भी स्त्री पर बलात्कार या उससे छेड़छाड़ की घटना घटित होगी, शंकाओं की सारी सुईयाँ उत्पीड़ित स्त्री पर आकर टिक जाती है। इस अन्यायपूर्ण परंपरा, मनुवादी विचारधारा का विरोध करना केवल संगठन के बल पर ही किया जा सकता। पुलिस, विधायिका, पंचायत सभी राज्यतंत्र और लोकतंत्र की संस्थाएं स्त्री विरोधी विचारों, प्रवृत्ति के लोगों के मानों अड्डे बने हुँए हैं। जिनसे न्याय प्राप्ति की आशा करना आज एक मज़ाक बन गया है।

पंचायत के अन्यायपूर्ण फैसले को सुनकर जब किसन समेत सभी उदास हो गए थे तो बिरमा ने पंचायती राज की बखियाँ उखाड़ते हुए कहा 'किसन भैया ठीक कहते थे, पंचायत में नियाव ना होता, जात-बिरादरी देखी जावे है। गुंडागर्दी होती है पंचायत के नाम पे.....।' उसके इस कथन में पंचायत के प्रति रोष झलकता है। लेकिन इस प्रकार की हार से वह निराश नहीं हुई है। सबको संबोधित करते हुए बिरमा ने सभी को हिम्मत बंधाते कहा 'इस हार पर मुँह क्यों लटका रे हो। ये अंत नहीं है.....तुम लोगं ने मेरे विश्वास कू जगाया है.....इसे मरने मत देणा।' उसके भीतर कुछ उबल रहा था, जो बाहर आना चाहता था।

बिरमा के आत्मविश्वास को देखकंर सभी दंग थे। उसमें जगे आत्मबोध व आत्मसम्मान ने सभी को एकजुट होकर, संघर्ष करने की शक्ति प्रदान की थी। उन्होंने मिलकर कहा

था, ... 'ना बिरमा..... यह अंत नहीं है तुमने हमें ताकद दी है। हार को जीत में बदलेंगे, लोगों में विश्वास जगाकर, ताकि फिर कोई बिसन मोहरा न बने।'

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने कहानी के मुख्य पात्र बिरमा के द्वारा जाति संघर्ष में सफल होने के लिए एकता और संघर्ष करने की शक्ति की जरूरत की ओर संकेत किया है। दलित साहित्य की मूलभूत चेतना भी यही है।

27.6 पुलिस और पंचायत राज का जातिवादी चरित्र

'यह अंत नहीं' कहानी के माध्यम से ओमप्रकाश वाल्मीकि ने दलित, शोषितों के प्रति जातिवादी और भेदभावपूर्ण व्यवहार करने वाली कथित सवर्ण जातियों की घिनौनी प्रवृत्तियों को न केवल उघाड़ा है बल्कि राज्य तथा जनतांत्रिक प्रणाली के प्रभाव द्वारा जातिवाद की जकड़न के कारण होने वाली अवहेलना का परदाफाश किया है। देश की स्वतंत्रता के चौवन वर्षों का लम्बा इतिहास जातिवादी प्रवृत्तियों को, गैर बराबरी को खत्म करके समानतावादी समाज की रचना नहीं कर पाया है। इसके कारणों और कथित सवर्ण सत्ताधारी की मानसिकता को यह कहानी उजागर करती है।

बिरमा के हुए अपमान, उस पर हुए अन्याय के खिलाफ किसन और उसके साथियों ने सबसे प्रथम राज्य द्वारा स्थापित संस्था 'पुलिस' का सहारा लिया। पुलिस का गठन आम नागरिकों की रक्षा करने हेतु किया गया है। इस जिम्मेदारी का निर्वाह करना इस नौकरी की पहली शर्त है। लेकिन ग्रामीण और शहरी पुलिस के जिस भेदभावपूर्ण रवैये से दलित, पिछड़ा और अल्पसंख्यक आतंकित है, उस वास्तविक स्थिति को इस प्रसंग में बयान किया गया है।

किसन और साथियों द्वारा बिरमा पर हुए अत्याचार की घटना की रिपोर्ट दर्ज करने के प्रयास को पुलिस इंसपैक्टर यह कहते हुए 'छेड़ा-छाड़ी हुई है..... बलात्कार तो नहीं हुआ..... तुम लोग बात का बतंगड़ बना रहे हो। गाँव में राजनीति फैलाकर शांति भंग करना चाहते हो। मैं अपने इलाके में गुंडागर्दी नहीं होने दूँगा।..... चलते बनो।' रिपोर्ट दर्ज करने से मना करता है।

किसन और उसके साथी तो रिपोर्ट लिखाने के लिए ही आए थे और वे अपने जनतांत्रिक अधिकार के लिए लड़ रहे थे। उनको वहाँ से हिलते न देख इंसपैक्टर अजीब-सी मुद्रा बनाकार बोला, 'फूल खिलेगा तो भौंरे मंडराएंगे ही.....।' उसने बेशर्मी से खींसे निपोरे, किसन ने जब तिलमिलाकर कहा, 'तमीज से पेश आइए' तो किसन के गाल पर एक झन्नाटेदार थप्पड़ इंसपैक्टर ने देते हुए बड़ी मगरूरी से कहा 'हरामी की औलाद ये डंडा पूरा उतार दूँगा..... तू मुझे तमीज सिखाएगा..... इंसपेक्टर के अपमानित करने वाले शब्द और किसन को थप्पड़ मारना, रिपोर्ट लिखने से मना करने के साथ-साथ दलित किशोरी या स्त्री के प्रति असम्मानजनक भाषा का बेझिझक इस्तेमाल करना, कार्यरत पुलिस कर्मचारियों के जातिवादी रवैये को स्पष्ट करता है। बिरमा और किसन ने अपने न्याय के लिए संघर्ष को कायम रखते हुए अगला कदम उठाया। लोकतांत्रिक संस्था पंचायती राज पर किसन तथा उसके साथियों का विश्वास था। अतः न्याय के लिए पंचायत के सामने समस्या को रखना जरूरी समझा गया। प्रवीण ने कहा था 'पिछले चुनाव में इस पंचायत को आरक्षित किया गया था। बिसन सिंह तुम्हारी बिरादरी का प्रधान है। वह जरूर इस मामले को गम्भीरता से लेगा।'

बिरमा के अंगूठे की छाप की अर्जी पंचायत के सरपंच को दी गई। पहले तो उसने अर्जी लेने से ही आनाकानी की थी। बिसन सिंह चूँकि तेजभान और उसकी बिरादरी के समर्थन से चुनाव जीता था इसलिए वह तेजभान के विरोध में खड़े होने का साहस नहीं कर सकता था। ना ही उसके विरोध में जाने की उसमें हिम्मत थी। दबाव महसूस करते हुए भी वह इससे मुक्ति नहीं पा सकता था। अपनी वफादारी दिखाने 'अर्जी लेकर तेजभान की चौपाल पर पहुँचा। जाते ही अर्जी उनके सामने रख दी।' अर्जी देखते ही तेजभान भड़क उठा, 'भंगी.....चमारों की यह हिम्मत.....। क्यूं बे बिसना तुझे प्रधान इसीलिए बणाया था?' चौधरी की घुड़की से बिसना के तो होश उड रहे थे कह बैठा चौधरी साहब! इसीलिए तो खुद चलके आया हूँ। जब से मंगलू ने किसन को कॉलेज पढ़ने भेज्जा है बस्ती में तो राजनीति होने लगी है। और चौधरी साहब जमाना भी तो बदल गया है।' बिसना ने इतना कहा था कि चौधरी तेजभान और भड़क गया। सत्ता के साथ उसके निकट संबंध होने को बड़े गर्व से बताने लगा। 'ओए। बिसना..... जमाना अभी भी पहले ही वाला है, तू मुझे सीख दे रहा है। अपनी औकात मत भूल, जमाना तो तब बदलेगा, जिब हम चाहेंगे, जा जाके अपणी प्रधानी संभाल। कहीं वो ही खतरे में ना पड़ जावे। होगा वो ही जो हम चाहेंगे। और इतना उन सभी कू बता देणा, दरोगा से लेकर एस.पी. तक सभी अपणी जात के हैं। एक-एक कू अंदर करा दूँगा। ज्यादा तीन-पाँच करेंगे तो एनकाऊंटर में मारे जांगे बिना मौत ....." सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सत्ता के जातिवादी चरित्र को तेजभान ने इस गर्वोक्ति भरे बयान से स्पष्ट कर दिया।

'पंचायत के फैसले के दिन न आरोपी को बुलाया गया न फरियादी को। बस, सिर्फ फैसला सुनाया गया था।' 'सचिन्दर वल्द तेजभान ने बिरमा वल्द मंगलू के साथ राह चलते छेड़खानी करने की कोशिश की। भविष्य में ऐसी घटना न हो, इसलिए पंचायत सचीन्दर पर पाँच रुपया जुर्माना करती है।' बिरमा, मंगलू, किसन, प्रवीण और अन्य साथी इस फैसले को सुनकर अवाक् रह गए थे। किसन ने विरोध करने की कोशिश की, तो उसे धक्के देकर बाहर निकाल दिया। पंचों के फैसले को पंच परमेश्वर का फैसला कह कर बात को ही खत्म कर दिया। पंचायत जैसी लोकतांत्रिक प्रक्रिया के द्वारा सबसे निचले स्तर पर न्याय दिलाने या समाज को प्रगति की ओर ले जाने की प्रथम सीढ़ी पर ही जातिवादी प्रवृत्तियों की जकड़न और ब्राह्मणवादी सत्ता के प्रभाव को देखकर सभी उदास हुए थे। सभी की उदासी को बिरमा ने इन शब्दों में बयान किया "किसन भैया ठीक कहते थे पंचायत में नियाय ना होता, जात-बिरादरी देखी जावे है। गुंडागर्दी होती है पंचायत के नाम पें.....।"

इन निराशापूर्ण शब्दों में छिपे दर्द को समझने और प्रकट करने का सामाजिक प्रयास ही 'यह अंत नहीं' कहानी है।

27.7 सारांश

'यह अंत नहीं' कहानी दलित उत्पीड़न की घटना के माध्यम से समाज व्यवस्था के जातिवादी चरित्र को उजागर करती है। 'बिरमा' पर कामदृष्टि डालने वाला सचिन्दर इस जातिवादी मानसिकता के कारण ही दलित स्त्री के प्रति हीनदृष्टि रखता है। वह 'बिरमा' के प्रति आकर्षित नहीं अथवा उससे प्रेम भी नहीं करता वह केवल एक भोग की वस्तु समझकर बिरमा को अपमानित करना चाहता था। सामंतवादी, जातिवादी परंपरागत मूल्यों के प्रति आसक्त, वर्णवर्चास्विता से ग्रसित, जाति अहं के कारण श्रेष्ठत्व

के झूठे दंभ से पीडित, कथित सवर्ण वर्ग की सत्तांध प्रवृत्ति का यह वास्तविक चरित्र है। सत्ता के सभी केन्द्रों पर अपनी अधिसत्ता बनाए रखकर, गैर बराबरी को बरकरार रखकर सत्ता का उपभोग करने वाली ये परजीवी कथित सवर्ण जमात अछूतों के अस्तित्व को अछूत कहकर हमेशा दुत्कारती रही है, दलित स्त्रियों पर अत्याचार करने का वे अधिकार समझते हैं। इन्हीं जातिवादी प्रवृत्तियों को ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इस कहानी में उघाडा है। वे अपने प्रभाव के कारण पंचायत के सरपंच या प्रधान के फैसलों को अपने पक्ष में कर लेते हैं। जैसे बिसन आरक्षित पद पर प्रधान बन जाने के बावजूद सवर्ण जातियों के हाथ का मोहरा बना हुआ है। जो पंचायत ग्रामीण व्यवस्था का मजबूत आधार मानी जाती है, उसके जातिवादी होने पर वह कैसे दलितों के प्रति नृशंस बन जाती है, यह स्पष्ट हो जाता है।

उसी प्रकार पुलिस के जातिवादी स्वरूप को हमने देखा है। पुलिस जनता की सुरक्षा के लिए बनी है और शासनतंत्र का एक महत्वपूर्ण हिस्सा मानी जाती है। पुलिस के अत्याचारी और दलितों के प्रति असंवेदनशील स्वरूप को इस कहानी में दर्शाया है। दलितों की पुरानी पीढ़ी अशिक्षा के कारण सैकड़ों वर्षों तक सामंतवादी-जातिवादी भेदभाव और कथित सवर्णों के अत्याचारों को सहती आई। आत्मसम्मान, आत्मविश्वास, स्वाभिमान, संघर्ष और संगठन जैसे शब्दों का अर्थ वे नहीं समझ सके। लेकिन दलितों की नयी शिक्षित चेतनाशील पीढ़ी कथित सवर्णों के अत्याचारो-जुल्म के आगे नहीं झुकेगी, बल्कि उनका डटकर मुकाबला करेंगी। क्योंकि उनके भीतर जगी चेतना ने जुल्म करने वालों द्वारा फैलाए गए झूठ का पर्दाफाश कर दिया है। उन्हें प्रतिरोध की ताकत मिली है। लेकिन अभी भी इन्हें उन सभी प्रतिरोधों को हटाने की आवश्यकता है जिन्हें सवर्णों ने अपनी सत्ता के बल पर खरीद लिया है और अपने 'पैर की जूती' बनाकर रखा है। यहाँ की पुलिस का नितांत जातिवादी-भेदभावपूर्ण रवैया हो अथवा पंचायती राज की लोकतांत्रिक प्रक्रिया को वर्चस्ववादियों द्वारा अपने स्वार्थपूर्ति के लिए इस्तेमाल हो। इन सबके विरोध में आवाज उठा कर समानतावादी, न्यायपूर्ण समाज की स्थापना का प्रयास दलित कहानी का केन्द्र बिंदु है। अपनी हार को जीत में बदलने का विश्वास दलित युवा पीढ़ी में जाग रहा है। दलित नारी अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़कर जुल्म-अत्याचारों का प्रतिरोध करने लगी है। दलित साहित्य के इसी उद्देश्य की पूर्ति के होने के संकेत 'यह अंत नहीं' कहानी में मिलते हैं।

27.8 प्रश्न/अभ्यास

1. 'यह अंत नहीं' कहानी भारतीय समाज की जाति आधारित भेदभावपूर्ण समाज व्यवस्था पर प्रकाश डालती है।
2. ग्रामीण समाज में कथित सवर्णो के जातिवादी प्रवृत्तियों के प्रदर्शन के पीछें, कौन सी मानसिकता कार्य करती है?
3. 'बिरमा' पर हुए अत्याचार के लिए कारणीभूत जातिवादी प्रवृत्तियों और पुरुष वर्चस्ववादी मानसिकता पर प्रकाश डालिए।
4. दलित चेतना विकास के कारण दलित युवा पीढ़ी में किस प्रकार का परिवर्तन , दृष्टिंगत हो रहा है? इस पर प्रकाश डालिए।
5. 'पंचायती राज' जैसी जनतांत्रिक प्रक्रिया भी जातिवादी प्रवृत्तियों का शिकार क्यों है? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।
6. दलित साहित्य के उद्‌भव और विकास पर एक निबंध लिखिए। (लगभग 500 शब्दों में)

अभ्यास

1. बिहार के जहानाबाद जिले में घटित दलितों की सामुहिक हत्याकांड की घटना पर 250 से 300 शब्दों में निबंध लिखिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. दलित साहित्य सृजन के संदर्भ - डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी
2. साहित्य और दलित चेतना - महीप सिंह, चन्द्रकान्त बांदिवडेकर
3. दलित साहित्य : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार - रमणिका गुप्ता
4. मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिंदी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना - डॉ. विमल थोरात